पाप की सजा भारी

नम्र सूचन

इस ग्रन्थ के अभ्यास का कार्य पूर्ण होते ही नियत समयावधि में शीघ्र वापस करने की कृपा करें. जिससे अन्य वाचकगण इसका उपयोग कर सकें.

प्रवचनकार और लेखक - प. पू. मुनिराज श्री अरुणविजयजी महाराज

चातुर्मासिक २० रविवारीय - सचित्र जाहीर व्याख्यानमाला

श्री महावीर जैन शिक्षण शिविर

आयोजक - श्री जैन श्वे. मू. त. संघ, उदयपुर

विषय --→ पाप और हिंसा (4)

वि. सं. २०४१. श्रावणशुद-४ ● तीसरा व्याख्यान-३ ● रविवार 21-7-85

यद्यपि- अठारह प्रकार के सभी पाप एक-एक योग-मन-वचन-काया से हो सकते हैं, और होते भी है, फिर भी जिस-जिस पाप में मन-वचन-काया की प्राधान्यता है, प्रबलता है उनके भेदमें उनको रखा है। मन-वचन-काया की अशुभ प्रवृत्ति के क्षेत्र में इन १८ पाप में प्रवृत्ति होती है। उसी तरह अच्छी शुभ प्रवृत्ति में पुण्य के मार्ग में भी प्रवृत्ति हों सकती है। आखिर तो ये तीनों ही जड है, कर्ता तो मुख्य आत्मा ही है। .... अत: आत्मा चाहे तो इन जड साधनों का सदुपयोग कर सकती है, या चाहे तो दुरुपयोग भी कर सकती है।

सांप का भय बडा कि पाप का भय ?

एक वृद्ध सज्जन रस्ते पर चल रहे थे कि एक युवक पीछे से चिल्लाया– शेठजी ! .... शेठजी .... ! आपकी पघडी में साँप है। सांप का नाम सूनते ही शेठजी घबडा गए, और पघडी उतार कर रास्ते पर फेंक दी। और सोचने लगे- हो सकता है, खूंटी पर से पघडी लेकर पहनी तो उसमें सांप का छोटा बच्चा रह गया हो। अरे ! भाई युवक ! तुम जो भी कोई हो, ... तुमको लाख लाख धन्यवाद तूमने मुझे बचा लिया। ऐसा कहते हुए शेठजो युवक के पैर पडने लगे। ....

कुछ दिनों के बाद फिर ऐसा ही दिन आया, रास्ते में शेठजी के पीछे युवक चल रहा था, वह चिल्लाया– शेठजी.... ! शेठजी ! ....आपकी थैली में पाप है .. पाप.... अरे....रे ... ।.... यह क्या ? ....शेठजी.... । अरे ....ओ शेठजी.... । ....थैली फेंक दीजिए। .... शेठजी ने सुना। और सुनते ही चोंक गए। चोरी का माल, सोने

के आभूषण आदि थेली में छिपाकर उसके उपर थोडी सब्जी-खरीदकर रख ली थी और चले जा रहे थे। विचक्षण चतुर युवक ने बहुत कहा .... लेकिन उसके नजदीक आते ही शेठजी पैर में से जूता निकाल कर उसे मारने दौडे.... । युवक ने कहा शेठजी । जब सांप बताया तो उपकार माना था, मेरे पैर पडे थे । तो शेठजी ! आज में सांप से भी बडा पाप बता रहा हूं । अब मुझे जूते से मार क्यों रहे हैं ? सोचिए सांप बडा कि पाप ? साँप काटेगा तो एक ही बार मरेंगे । लेकिन पाप के कारण कितने जनम तक मरना पडेगा रोना पडेगा! शेठजी! अब सोचिए कौन बडा? सांप की पाप ।

अठारह पापस्थानक की क्रममीमांसा—

इन अठारह ही पापस्थानकों को सूत्रबद्धरूप में लिखने में आगम शास्त्रों में जो क्रम दिया गया है। उसके ऊपर कभी अच्छी तरह यदि सोचें तो आश्चर्य लगता है कि इसमें भी बडी गंभीरता है।—सबसे पहला नंबर–प्राणातिपात–हिंसा का रखा है। अत: आठरहों पापों का यदि किसी एक में समावेश संभव हो सकता हो तो वह एकमात्र हिंसा में हो सकता है। हिंसा एक ऐसा विशाल–व्यापक पापस्थान है कि उसीके मानसिक–वाचिक–कायिक आदि भेदों में ही ईतर सतरह पापों की गंध आती है। अत: अन्य पापों में भी मानसिकादि हिंसा की संभावना के ही कारण मुख्य रूप से उन–उन पापों के त्याग की बात की गई है।

उदाहरणार्थ जैसे देखिए—झूठ बोलने में, चोरी की प्रवृत्ति में, मैथून सेवन में भी बहुत बडी हिंसा है, परिग्रह–संग्रह भी

आरंभ–समारंभादि की हिंसा से ही निर्माण होता है। उसी तरह क्रोधादि के परिणाम स्वरूप हिंसा, एवं कलह–झगडे आदि का नतीजा भी हिंसा की संभावना को बताता है। अतः कहा भी जाता है कि—"हिंसा–सर्वपापानाँ–जननी"–हिंसा सभी पाप की जननी–(जनेता) मां कहीं गई है। अतः आगे–आगे के पापों में पीछे-पीछे के पापों की संभावना रही हुई है। दूसरे में पहले की, तीसरे में पहले दो की, चौथे में पहले तीन की, पांचवे में वहले चार की·······इस तरह अठारहवें पाप में आगे के सभी सतरह पापों की पूरी संभावना है। मिथ्यात्वी जीव तो फिर कौनसे पाप छोडता है ?और इसी तरह देखिए—एक-एक से बढ़कर पापों का स्वरूप यहां पर बताया गया है। और मानव–जीवन की दिनचर्या–उसका जीवन व्यवहार देखें तो ऐसा भी पता चलता है कि–सुबह उठकर–रात को सोने के पहले संभव है कि दिनभर के व्यवहार में वह अठारहों पापों से लिप्त हो जाता होगा। इसीलिए प्रतिदिन पापों की क्षमापना करके शुद्ध बनने का भाव रखना ही चाहिए।

प्रतिक्रमण में पापों की क्षमापना—

प्रतिक्रमण विधि में पापकर्मों की यादी जरूर पढी जाती है। जो हमारे षडावश्यक है। अर्थात् अवश्य करने योग्य—जो हैं वे "आवश्यक" कहलाते हैं। वे ६ हैं। (१) सामायिक (२) चतुर्विंशतिजिनस्तव (३) वंदना (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग (६) पच्चक्खाण। "जैन" नाम धारण करने वाले, अपने आप को जैन मानने वाले को प्रतिक्रमण – उपरोक्त ६ आवश्यक

(क्रिया-विधि) अवश्य ही करनी चाहिए। इसमें प्रतिक्रमण भी है। अर्थात किये हुए पापों की क्षमापना करके पाप से पीछे हठने की क्रिया ही प्रतिक्रमण है। अति+क्रमण का—प्रति+क्रमण। 'क्रम' धातु-गति-जाने अर्थ में है। 'अति' उपसर्ग है-अतिक्रमण-मर्यादा का उल्लंघन करके न करने योग्य यदि किया है-तो उससे वापिस पीछे हठने के लिए प्रति+क्रमण-बताया है। "प्रति" उपसर्ग प्रतीक्रिया को बताया है। प्रति-क्रमण=अर्थात किये हुए पापों से पीछे हठना। "मैंने यह पाप किया है" यह जानते ही उस पाप से छुठकारा पाने-मुक्त होने के लिए तुरंत किये हुए पापों की क्षमापना करके·······फिर आगे पाप न करने की प्रतिज्ञा करके पीछे हटना ही प्रतिक्रमण विधि का मुख्य हेतु है।

अब आपने प्रतिक्रमण किया भी होगा, देखा भी होगा वहां पर-मैंने-क्या-क्या धर्म किया ? कैसा-कैसा धर्म-पुण्य किया उसका विचार प्रतिक्रमण में नहीं है। वहां तो पाप का विचार है ! चौबीस तीर्थंकर भगवंतो की स्तुति आदि करके-प्रतिक्रमण की स्थापना-(प्रारंभ) की जाती है।—**"सव्वस्सवी-देवसिअ दुच्चिंतिअ, दुब्भासिअ, दुच्चिट्ठिअ मिच्छामिदुक्कडं"** अर्थात-सब जो कुछ मैंने दिन संबंधी-(दिन में) मनसे खराब सोचा हो, वचन-से खराब बोला हो-कहा हो, और काया (शरीर) से खराब पाप किया हो-उन सभी का मिच्छामिदुक्कडं-(क्षमापना)। वे मेरे सभी पाप मिथ्या हो। इस भावना से प्रतिक्रमण प्रारंभ करते हैं, और फिर आगे अठारह प्रकार के पापों को याद करते हैं,

सभा में एक-एक व्यक्ति अठारह पापों की यादी पढता है, बोलता है— सभी ध्यान से सुनते हैं—कि इन अठारह में से मैंने कौनसे-कौनसे पाप किये हैं ? इस तरह अपने-अपने किये हुए पापों को याद कर प्रभु समक्ष, गुरू समक्ष क्षमापना करना ही प्रतिक्रमण है। इसीलिए पुण्यकार्यों का स्मरण प्रतिक्रमण में नहीं है-परंतु पाप त्याग ही प्रतिक्रमण है।—

पाप त्याग-धर्म है—

विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनों ही प्रकार में धर्म का स्वरूप है। विधेयात्मक—अर्थात जिसमें विधान है—"किच्चाणं करणे"-कृत्य-करने योग्य कार्य-करना यह विधेयात्मक धर्म है। जिसमें परमात्मा की आज्ञा है। यह ·· यह ··· करो। यह····यह···· करने योग्य है ·· अतः करना चाहिए। इसीलिए-"आणाए धम्मो"-आज्ञा में धर्म है।

आज्ञा

विधेयात्मक(करने योग्य करो), निषेधात्मक (न करने योग्य न करो)

"पडिसिद्धाणमकरणे"—प्रतिषेध=निषेधकार्य न करना यह भी धर्म का ही स्वरूप है। यह· ·यह···नहीं करना चाहिए····यह···यह··· अकृत्य है—करने योग्य नहीं है-ऐसी भी सर्वज्ञ भगवंत की ही आज्ञा है।

अधर्म के प्रकार→ अधर्म

1 पडिसिद्धाणं करणे
2 किच्चाणमकरणे
3 अश्रद्धा
4 विवरीय परूवणा

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं।

असद्दहणे अ तहा, विवरीय परूवणाए अ ॥

[१] प्रतिषेध–निषेध आज्ञा का करना, अर्थात ना कहते हुए भी वह कार्य करना, [२] कृत्य–करने योग्य कार्य न करना, [३] श्रद्धा न रखना, [४] विपरीत प्रतिपादन करना—जो स्वरूप है उससे उल्टा बताना—इस तरह चार प्रकार से अधर्म का सेवन होता है। पाप लगता है। आज्ञाभंग होता है। अब निषेधात्मक धर्म के ही स्वरूप में इन अठारह पाप स्थानों का सेवन–आचरण न करने की आज्ञा है। पाप त्याग यह प्रथम आचरणीय है। पाप का त्याग करना ही धर्म की भूमिका, धर्म योग्य पात्रता निर्माण करने की तैयारी है। इन्ही १८ पाप के निषेधरूप धर्म का स्वरूप देखिए—

अठारह पापस्थानक	**पाप त्याग रुप–धर्म**
(१) प्राणातिपात- (हिंसा)-	(१) अहिंसा-प्राणीरक्षा, दया
(२) मृषावाद- (असत्य-झूठ)	(२) सत्य
(३) अदत्तादान- (चोरी)-	(३) अस्तेय, दत्तादान
(४) मैथून- (अब्रह्म)-	(४) ब्रह्मचर्य
(५) परिग्रह- (मूर्छा)-	(५) ममत्व त्याग, अपरिग्रह, दान
(६) क्रोध- (गुस्सा)	(६) क्षमाधर्म
(७) मान-(अभिमान,अहंकार)	(७) नम्रता, विनय
(८) माया- (छल-कपट)-	(८) ऋजुता, सरलता
(९) लोभ- (तृष्णा)-	(९) संतोष, तृप्ति
(१०) राग- (स्नेह-प्रेम)	(१०) विराग, वैराग्य

(११) द्वेष-(तिरस्कार,वैर)- (११) सद्भाव, मैत्री
(१२) कलह- (झगडा-क्लेश) (१२) समता, शांति, समभाव
(१३) अभ्याख्यान- (आरोप) (१३) गुणानुराग, गुणदर्शन
(१४ पैशून्य- (चाडी-चुगली) (१४) गुणानुवाद
(१५) रति-अरति- हर्ष-शोक) (१५) समत्व भाव, तटस्थ-भाव
(१६) परपरिवाद- (निंदा) (१६) परप्रशंसा, स्वनिंदा
(१७) माया-मृषावाद-प्रतारणा (१७) निर्मायिकसत्य, निष्कपटता
(१८) मिथ्यात्वशल्य (अश्रद्धा) (१८) सम्यग् श्रद्धा, सम्यक्त्व

इस तरह धर्म करने के पहले पाप अधर्म न करने की प्रतिज्ञा अधर्म त्याग– पाप त्याग की प्रतिज्ञा ही बहुत बडा कार्य है। आज कल लोक धर्म के कार्य तो कर लेते हैं– दान पुण्यादि तो करते हैं, लेकिन अधर्म– पाप का त्याग नहीं करते हैं– जीवन पापों से भरा हुआ रखते हैं। पाप करते हुए भी– पाप करके भी आप धर्म करते जाओ यह किसने कहा ? दर्शन - पूजा - जाप आदि करते जाओ और हिंसा - झूठ - चोरी भी करते जाओ यह किसने सिखाया ?

प्रश्न— तो क्या दर्शन– पूजा– जापादि न करें ?

अरे भाई ! क्या क्या नहीं करना है ? उसकी चर्चा अभी ही की है। इसलिए करने योग्य कृत्य अवश्य ही करने चाहिए। दर्शन - पूजादि कृत्य है.... ... अवश्य करीए। लेकिन साथ में अकृत्य जो न करने योग्य पाप हैं उनका त्याग भी करते जाइए। नहीं तो पाप छोटा सा भी होगा तो आपके बड़े धर्म पर भी कलंक

लगाएगा। आपके पुण्यकार्य की भी निंदा होगी। इसलिए पाप त्याग की प्रथम आवश्यकता है।

किसका डर है ? ....

प्रश्न– अब मैं यह प्रश्न करता हुं कि– आज हमें पाप का भय है या पाप करते हुए कोई देख ले इसका भय है ? सच बोलिए।

सभा में से उत्तर–– महाराज ! पाप करते हुए कोई देख ले उस का भय बडा है।

क्यों भाई पाप ! देखने वाले का भय क्यों रखते हो ? वह तुम्हारा क्या करेगा ? वह तुम्हे क्या सजा करेगा ? संभव है तुम सशक्त - बलवान हो तो उसे भी गिरा दो। अब आप उसका भय रखते हैं ? या वह आपसे डरता है ? सोचिए। फिर भी एक सशक्त बलवान या बडा आदमी भी अपने छोटे पाप को भी दूसरा यदि कोई जानता है, देखताहै, उससे डरता है, उसको भय है– कहीं यह मेरी पोल खोल न दें। अतः बडा भी छोटे से डरता है।

अर्थात् एक बात तो निश्चित हो गई कि आप पाप से तो नहीं डरते हैं। पापभीरू नहीं है, आपको पाप का भय नहीं है। सिर्फ पाप करते हुए कोई देख ले उसी का भय है, उसी देखने वाले से ही आप डरते हैं। और मानों कि कोई देखने वाला न हो तो तो, आप पाप कर ही लेंगे। (उत्तर– हां)........ यदि कोई न देखता हो तो पाकीट– पैसा उठा ही लेते हैं। कोई न देखे तो चोरी– हिंसा दुराचार आदि कर ही लेते हैं।

पाप अंधेरे एकान्त में होता है—

अक्सर पाप अंधेरे में एकान्त में होता है। जहां कोई न हो, कोई न देखे। कई बार अंधेरा, एकान्त मिलते ही पाप के खराब विचार आने शुरू हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है ? क्योंकि उसने अंधेरे - एकान्त में ही पाप करने की आदत बनाई है। वही उसे प्रिय है। इसलिए अन्धेरा - एकान्त पाप के लिए सहायक साधन है। गुजराती में— "अंधारी आलम ना लोको" यह शब्द प्रयोग किया जाता है, रात में, या अंधेरे में, एकान्त में– हिंसा– झूठाकाम, खून, डाका, लूटफाट, आगजनी, बलात्कार व्यभिचार आदि अनेक बूरे पाप होते हैं, ऐसा करने वाले– गूंडे, असामाजिक तत्व के नाम से पहचाने जाते हैं। इसलिए पाप करने वाले पापी ने अपनी ऐसी आदत बना ली है कि– खून, चोरी, बलात्कार, पर निंदा आदि पापों को करने के पहले वह धीरे से चारों तरफ आंख घूमाकर - नजर डालकर देख ही लेता है कि– कोई देखता तो नहीं है, कोई सुनता तो नहीं है? नहीं.... ... तो फिर वह अपना पाप शुरू करता है। और यदि कोई देखता है तो वह अंधेरे - एकान्त का इन्तजार करते हुए काल क्षेप करता है।

पाप की सजा भारी—

परन्तु अच्छी तरह गंभीरता से सोचिए कोई देखे या न भी देखे इससे क्या फरक पडता है। आखिर कर्म सत्ता के घर में न ही अंधेर है। अन्त में "पाप की सजा तो भारी" ही है। किसी के देखने से सजा कम नही होती, और न देखने से सजा बढ नहीं

जाती । पाप तो पाप ही है । पाप कर्म है । और बंधा हुआ कर्म तो अवश्य ही भोगना पड़ेगा । **"कृतं कर्म अवश्यमेव भोक्तव्यं, कल्पकोटि शतैरपि"** । चाहे करोडों वर्ष भी बीत जाए तो भी किये हुए कर्म के फल की सजा तो अवश्य ही भोगनी पडेगी । उसमें तो कोई विकल्प ही नहीं है, कोई छूटकारा ही नही है । भगवान महावीर के ही २७ भवों की परंपरा देखिए । तीसरे मरीचि के भव में बांधा हुआ नीच गोत्र कर्म........ जिसकी सजा के रुप में– १४ वें भव तक तो निरंतर याचक कुल में जन्म लेना ही पडा, और फिर भी वह कर्म सत्ता में से समाप्त नहीं हुआ तो अंतिम २७ वें भव में भी.... देवानंदा की कुक्षी में जाना ही पडा । ८२ दिन का शेष वह कर्म था अत: ८२ दिन तो वहां रहना ही पडा ।

उसी तरह १८ वें त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में शय्यापालकों के कान में तपा हुआ गरम-गरम शीशा डाला आदि अनेक पापों के फलस्वरुप- १९ वे भव में सातवीं नरक में जाना पडा. किये हुए पापों की सजा का फल नरक में भोगना पडा । लेकिन फिर भी पापकर्म सत्ता में से खतम नही हुआ था जिसके परिणाम स्वरुप २७ वें भव में भी महावीर के कानों में खीले ठोके गए । सोचिए जो दशा भगवान महावीर के जीव की हुई हैं कैसे.... कैसे भारी पाप कर्म और उसकी कैसी कैसी बडी भारी सजा भोगनी पडी । तो फिर हमारी तो क्या दशा होगी ? कैसी कैसी सजा भोगनी पडेगी ? चाहे कितने ही वर्ष या कितने ही जन्म भी बीत जाएँ तो भी किया हुआ निकाचित पापकर्म का फल तो अवश्य ही

भोगना पडेगा । अतः भगवंत ने उपदेश में सर्वप्रथम पाप त्याग करने के लिए कहा है । दुःख से बचना चाहते हैं तो पाप से बचना अनिवार्य है ।

धर्म योग्य पात्रता→

संसार में योग्यता-पात्रता सर्वत्र देखी जाती है । जीवन भर कमाई करके इकट्ठी की हुई ५–१० लाख की पूंजी यदि पुत्र को देनी है तो क्या पिता पुत्र की योग्यता-पात्रता देखेगा या नहीं ? अपनी कन्या की शादी करने के पहले सामने वाले युवक की योग्यता–पात्रता भी देखी जाती है । सर्वत्र संसार के लोकव्यवहार में भी पात्रता–योग्यता देखी जाती है, बीज बोने के पहले, खेती पहले भूमि को भी किसान योग्य बनाता है । तो सोचिए इतने ऊँचे सर्वज्ञ-वीतराग भगवान के धर्म के लिए भी पात्रता–योग्यता देखनी चाहिए कि नहीं ? हम अपनी अंतरात्मा में सोचें कि क्या मैं ऐसे वीतराग की पूजा-भक्ति करने के लिए पात्र हुं या नहीं ? मैं इस धर्म के लिए लायक हुं या नालायक हुं ? मेरे में योग्यता–पात्रता है या नहीं ?

ज्ञानी महात्माओं ने पात्रता का मापदंड बताते हुए कहा है कि–जो आत्मा पापभीरू, भवभीरू है, पाप से डरने वाला, संसारवृद्धि न हो यह भय रखने वाला है वही जीव धर्म के लिए योग्य पात्र है । वही योग्य है । इसलिए हमको पापभीरू–भवभीरु अवश्य बनना ही चाहिए । पाप से डरीए । पाप देखने वाले से नहीं । पाप बूरा है, पाप खराब है, देखने वाला नहीं ! संभव है देखने वाला भला सज्जन भी हो जो हमें पाप से बचाने के लिए

शिक्षा भी दे, और बचाए भी सही ! अतः पापभीरू आत्मा का ही संसार से छूटकारा संभव है !

पुण्य— पाप की चतुर्भंगी—

२ के भेद ४ होते हैं। पुण्य- पाप के भी चार भेद होते हैं। कभी कोई पुण्य के उदय में नए पाप भी करता है, या कोई पाप के उदय में नए पुण्य भी उपार्जित करता है। इस तरह चतुर्भंगी इस प्रकार बनती है—

[१] पुण्यानुबंधी - पुण्य [२] पापानुबंधी - पुण्य

[३] पुण्यानुबंधी - पाप [४] पापानुबंधी - पाप

(१) **पुण्यानुबंधी पुण्य**— गत जन्मों के शुभ पुण्यवश आज सुख-संपति आदि काफी अच्छी है, और मति - बुद्धि - भावना भी काफी अच्छी है। जिससे वह जीव धर्म भावनानुसार - दान-पुण्य आदि देव - गुरू - धर्म की आराधना से नए पुण्य भी उपार्जित कर रहा है। जैसे गत जन्म में गोपालक पुत्र ने सुपात्र दान करके मुनि महात्मा को खीर दान की, औंर जिसके पुण्य स्वरूप वह शालिभद्र बना, और काफी पुण्य के फलरूप धन संपति अमाप पाया। और शालिभद्र के जन्म में भी बहुत दानादि करके नया पुण्य उपार्जित किया। इस तरह ऐसे पुण्य का उदय जो नया पुण्य ही बढाए वह पुण्यानुबंधी पुण्य है।

(२) **पापानुबंधी पुण्य**—जिस पुण्य के उदय के बाद नए पाप कर्म का बंध किया जाय वह पापानुबंधी पुण्य है। गत जन्मों की धर्माराधना का पुण्योदय आज काफी अच्छा है। धन-संपत्ति श्रीमंताई काफी अच्छी मिली है, लेकिन इस पैसों के जोर से वह हिंसा,

१ पुण्यानुबंधी पुण्य
२ पापानुबंधी पुण्य
३ पुण्यानुबंधी–पाप
४ पापानुबंधी – पाप
रोहिणिया दीक्षा
कृत्रिम देव भवन

झूंठ, कुकर्म-चोरी, जुगार-शिकार-वेश्यागमन के पापकर्मों में ही आसक्त है व्यसनों में ही जीवन बीता रहा है-अतः गत जन्मों के पुण्य के उदय काल में सुख भोगते हुए वह आज नए पाप कर्म बांध रहा है यह पापानुबंधी पुण्य है। पूर्व जन्म में साधु महाराज को मोदक वहोराने के पुण्योदय से मम्मण शेठ बडा श्रीमंत बना, असीम संपत्ति पाया। परन्तु वहेराए हुए मोदक वापिस ले लेने की वृत्ति से वह कृपण बना... ! नए पाप भी उपार्जन किए। यह भाव आप चित्र में स्पष्ट समझ सकेगें।

(३) **पुण्यानुबंधी-पाप**—पुराने पाप कर्मों के उदय से आज दुःखी है, लेकिन आज थोडे में से भी थोडा दान करके नया पुण्य उपार्जन करना यह तीसरा भेद है। जैसे रौहिणेय चोर-चोर होते हुए भी .. दीक्षा लेता है, और सदा के लिए सुखी बनता है। कालशौकरिक कषाई का पुत्र सुलष कुमार पापोदय से कषाई के घर में जन्मा है, फिर भी हिंसा का त्याग करके....नया पुण्य उपार्जन करता है।

(४) **पापानुबंधी पाप**—गत जन्मों के पाप का उदय है जिसके कारण बिचारा झूपडपट्टी में, दुर्गति में, कषाई के घर जन्म लिया है, बडा दुःखी है, और फिर उसी दुःखदायि स्थिति में और नए पाप कर्म भी उपार्जन कर रहा है-यह चोथा भेद है। जैसे उदाहरणार्थ-कालशौकरिक कषाई-खूब पापोदय से-दुःखी है, और हिंसा करके नए पाप बांध रहा है।

पाप और दुःख की परंपरा——→

> **पुनः पापं पुनः दुःखं, पुनः दुःखं पुनः पापं।**
> **पुनरेव जननं-पुनरेव मरणं, पुनरेव जननी जठरे शयनं॥**

– फिर से जनम–फिर से मरण, फिर से माता के गर्भ में उल्टे सिर–मल–मूत्र की क्यारी में ९ महिने लटकना, फिर वापिस जन्म-उसके बाद फिर वे ही पाप-फिर उसके फलस्वरूप फिर वही दुःख फिर वही जन्म–मरण–यह कैसा अजीब चक्र चल रहा है ?

जिस तरह कूए पर अरट चलता है, वही चक्र घूमता है, नीचे से पानी भरकर आई बाल्टी उपर खाली हुई, वापिस नीचे

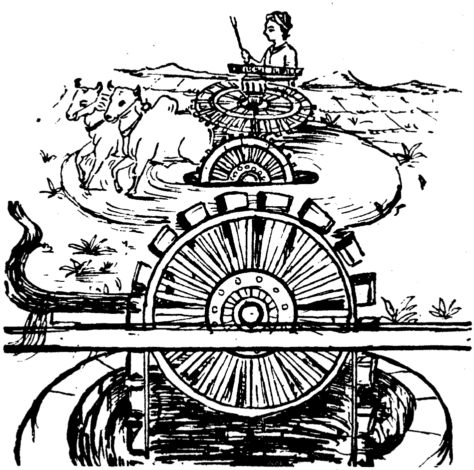

गई, वापिस भरकर उपर आई और खाली हुई, यह भरना–खाली होने का चक्र चलता ही रहता है ।

दूसरा चित्र देखिए–बीज से झाड उगता है, उसी झाड़ के फल फिर नीचे गिरते है, फिर उस बीज में से झाड़ उगता है, इस तरह बीज से फल–फल से बीज का क्रम तो चलता ही रहता है । जैसे अंडे में से मुरगी, फिर मुरगी में से अंडा, फिर मुरगी,

फिर अंडा' 'यह अनादि काल से क्रम चलता ही रहता है, ठीक उसी तरह–पाप और दुःख का भी क्रम चलता ही रहता है। जीव

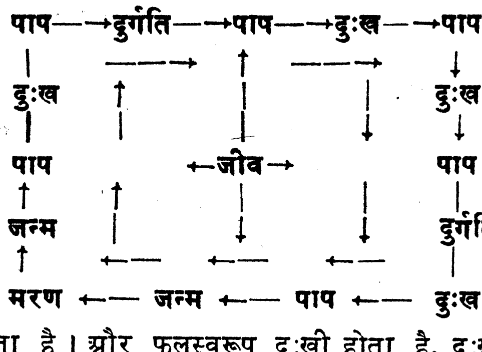

पाप करता है। और फलस्वरूप दुःखी होता है, दुःखी होकर फिर पाप करता है, फिर दुःखी होता है फिर पाप करता है, फिर दुःखी होता है और इसी तरह जन्म–मरण का भी चक्र चलता

ही रहता है । फिर जन्म-फिर मरण, फिर जन्म फिर मरण औ
फिर उसी माता के उदर में-गर्भ में उल्टे मष्तक लटकने क
सजा ! यह क्रम कूए के अरट की तरह कहो या बीज-फल, अंडे-
मुरगी की तरह अनादि काल से अवरित सतत चालु ही है
किये हुए पाप से दुःर्गति-भी मिलती है, और उस दुर्गति में दुःख
भी भोगना पडता है, और उस दुःख में फिर पाप कर्म करते हैं
फिर दुःखी होते हैं। गत जन्मों के पाप कर्म के उदय से को
झूपडपट्टी में जन्मा है, और वहां चोरी का धंधा, शराब बनाने-
पीने का काम करता है, या कोई बिचारा पापकर्मानुसार कषा
के घर जन्मता है। अब वह क्या करेगा ? संभव है उसी बाप के
धंधे में लगा भी रहे। तो फिर वही पाप-फिर वही नरक, फि
वही पाप-फिर वही दुर्गति-और दुःख इस तरह अनादि-अनन्त
के चक्र में जीव फंसा हुआ रहता है। कब छुटकारा होगा यह
पता नहीं है। और तैली के बैल की तरह दिशाशून्य स्थिति में
चलता ही रहता है। ठीक ही कहा है कि—

पुनः पापं पुनः दुःखं, पुनः दुखं पुनः पापं ।
पुनः नरके प्रयाणं, पुनश्च गर्भे शयनम् ॥

८ कर्म में-पुण्य-पाप की प्रकृतियां——→

८ कर्म

४ घातीकर्म | **४ अघातीकर्म**

४ घातीकर्म

१	२	३	४
ज्ञानावरणीय	दर्शनावरणीय	मोहनीय	अंतराय

५ + ९ + २६ + ५=४५

|——→ ४५ सभी पाप की है←— +

४ अघातीकर्म

५	६	७	८
नाम	गोत्र	वेदनीय	आयुष्य
१०३	२	२	४

पाप की→ ३४ + १ + १ + १=३७

पुण्य की→ ३७ + १ + १ + ३=४२

४५+३७=८२—पाप की कुल प्रकृतियां

यही ४२ पुण्य की प्रकृतियां है घातीकर्म में सभी ४५ प्रकृतियां पाप की है अतः पुण्य का भेद इसमें नहीं पडता। ज्ञान के उपर आवरण हो और ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अज्ञान उदय में हों इसे तो अच्छा या शुभ (पुण्य) का उदय कोई भी नहीं मान सकता। कर्म के अघाती विभाग के ४ कर्मों में ही पुण्य-कर्म का भेद है

	अघाति कर्म	कुलप्रकृति	पुण्यप्रकृति	पापप्रकृति
१—	नामकर्म —	१०३ —	३७ —	३४
२ —	गोत्र कर्म —	२ —	१ —	१
३—	वेदनीयकर्म —	२ —	१ —	१
४—	आयुष्य कर्म —	४ —	३ —	१
			४२	३७

४ घातीकर्म

१	२	३	४
ज्ञानावरणीय	दर्शनावरणीय	मोहनीय	अंतराय
५ +	९ +	२६ +	५=४५

|——→ ४५ सभी पाप की है←—— +

४ अघातीकर्म

	५	६	७	८
	नाम	गोत्र	वेदनीय	आयुष्य
	१०३	२	२	४
पाप की→	३४ +	१ +	१ +	१=३७
पुण्य की→	३७ +	१ +	१ +	३=४२

४५+३७=८२—पाप की कुल प्रकृतियां

यही ४२ पुण्य की प्रकृतियां है घातीकर्म में सभी ४५ प्रकृतिबां पाप की है अतः पुण्य का भेद इसमें नहीं पडता। ज्ञान के उपर आवरण हो और ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अज्ञान उदय में हो इसे तो अच्छा या शुभ (पुण्य) का उदय कोई भी नहीं मान सकता। कर्म के अघाती विभाग के ४ कर्मों में ही पुण्य-कर्म का भेद है

अघाति कर्म	कुलप्रकृति	पुण्यप्रकृति	पापप्रकृति
१— नामकर्म —	१०३ —	३७ —	३४
२— गोत्र कर्म —	२ —	१ —	१
३— वेदनीयकर्म —	२ —	१ —	१
४— आयुष्य कर्म —	४ —	३ —	१
		४२	३७

४२ पुण्य प्रकृतियों का वर्णन पिछले व्याख्यान में कर चुके है । किये हुए अच्छे पुण्य कर्म के फलस्वरुप संसार में जीव को ४२ प्रकार से अच्छा सुख मिलता है । ८२ पाप कर्म की प्रकृतियों का वर्णन आगे योग्य अवसर पर करेंगे ।

१८ पापों में द्रव्य–और भाव–पाप (बाह्य+आभ्यंतर पाप)

बताए गए १८ प्रकार के पाप स्थानको में कुछ पाप तो ऐसे हैं जिनके लिए बाह्य निमित्तों की, द्रव्यों की आवश्यकता रहती है, उनका आधार बाह्य निमित्तों पर विशेष रहता है ! अतः वे द्रव्य पाप– या बाह्य पाप कहलाते हैं, और कुछ पाप ऐसे भी हैं जिनके लिए बाह्य निमित्त न भी हो तो भी उनका संभव है । वे अंतरात्मा से सीधा संबंध रखते हैं । अतः उनको भावपाप, या आभ्यंतर पाप कर्म कहते हैं । जैसे कि– क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, और मिथ्यात्वशल्य ये सभी आभ्यंतर-भाव पाप है । बिना द्रव्यों के, निमित्तों के भी इनकी संभावना है । आत्मा के कषायात्मक अध्यवसाय ही क्रोध-मानादि राग-द्वेषात्मक है । और अश्रद्धा के रुप में मिथ्यात्व की उपस्थिति है ही । जहां तक सम्य-क्त्व की प्राप्ति नहीं हुई है वहां तक मिथ्यात्व के पाप का आश्रव-मार्ग तो चालु ही है ! इसोलिए राग-द्वेष को मुख्य-भाव कर्म कहा है । यही कर्म के मुख्य बीज है !

बाहरी निमित्तों की प्रबलता, और प्रधानता जिसमें है, वे बाह्य पाप है, जिनमें बाहरी द्रव्यों के निमित्त की प्रधानता रहती है, हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह आदि में बाह्य द्रव्य-धन-पैसा जमीन-जायदाद आदि अनेक वस्तु है। मैथून-स्त्री-संबंधी पाप है। और कलह-अभ्याख्यान, पैशून्य पर-परिवाद भी सभी बाह्य द्रव्यादि निमित्तक होने से द्रव्य पाप, या बाह्य पाप है। निंदा, आरोप, चाडी-चुगली आदि के लिए बाहरी निमित्त चेतन या अचेत द्रव्य कारणभूत है।

"पहले प्राणातिपात" पाप का स्वरुप—

इतनी पूर्व भूमिका से पाप तत्व समझ में जरूर आ गया होगा अब ऊन १८ पापों में से क्रमशः एक–एक पाप का विस्तार से विवेचन–स्पष्टीकरण करें, जिससे एक–एक–पाप को अच्छी तरह समझ सकें! १८ पापस्थानकों में जिसका सबसे प्रथम क्रम है वह है–"प्राणातिपात"। प्राणातिपात शब्द की व्युत्पत्ति रचना के हेतु से देखें।–प्राण+अति+पात=प्राणातिपात। अति-उपसर्ग पूर्वक गिराने-तोडने–पाडने के अर्थ में पत् धातु के पात से अतिपात शब्द बना है। किसको गिराना, तोडना है?–प्राण को। प्राण को तोडना–गिराना-पाडना–प्राणातिपात है! अब प्रश्न उठता है प्राण क्या है? कितने हैं? वैसे प्राण शब्द तो किसी से छिपा हुआ नहीं है। प्रायः सभी प्राण शब्द को तो अच्छी तरह जानते ही है। सामान्यरूप से श्वासोच्छ्वास को आयुष्य को प्राण के रूप में सभी मानते है। प्राणवायु आदि शब्द प्रयोग

में आते ही हैं। तो क्या प्राण-यही है? या और भी है? इसका स्पष्टीकरण करेंगे! ऐसे प्राणों का अतिपात अर्थात् अतिक्रमण, व्याधात, या विनाश करना ही प्राणतिपात है।-प्राणों का विनाश करना इसीका हमारी चालु भाषा में नाम है-हिंसा करना, वध करना, या मारना। आगम शास्त्रों में भो इसके भिन्न-भिन्न नाम बताए गए हैं-जैसे कि-हिंसा, घातना, मारना, विराधना, संरंभ, समारंभ, आरंभ, आदि। प्रश्न व्याकरण आगम में तो इसके पर्यायवाची-समानार्थक लगभग ३० नाम बताए गए हैं। प्राणों की हिंसा, वध, मारना, विराधना आदि प्राणातिपात कहलाता है। यहि हिंसा-प्राणातिपात के नाम से पहला पाप गिना जाता है। किसकी हिंसा?-जीव हिंसा। जीव विराधना! इसी पाप का उल्टा जीव दया, रक्षा यह पुण्य-धर्म है। ठीक ही कहा है कि-"दया धरम का मूल है"। दया ही धर्म का मूल है। हिंसा सभी पापों की जननी है। अतः जीव दया-जीव रक्षा यह प्रथम धर्म है।

पहले दया या पहले ज्ञान? दया किसकी पालनी है? जीवों की। अतः पहले दयाधर्म कैसा है? क्या है? यह स्वरूप समझें कि फिर पहले जीवों के विषय में जानकारी प्राप्त करें? जीव किसे कहते हैं? कितने प्रकार के जीव हैं? कौन-कौन से जीव किस-किस गति में है? किस-किस जाति के हैं? किस योनि के कौन से जीव हैं? यह ज्ञान भी पहले जरूरी है! जिसका ज्ञान ही नहीं है, उसकी रक्षा क्या करेंगे? उसकी दया क्या पालेगें?

या पशु–पक्षी में जीव ही नहीं मानते तो फिर उसकी दया पालना, रक्षा करना यह कैसे संभव है ? इसलिए दशवैकालिक आगम में यह कहा है कि–"**पढमं नाणं तओ दया**" प्रथम ज्ञान और पीछे दया ! जिसकी दया पालनी है उसका ज्ञान सबसे पहले होना जरूरी है !

जिन धर्म-संप्रदाय या दर्शनों में पशु-पक्षी में जीवत्व ही नहीं बताया है तो वे उन जीवों की रक्षा की आज्ञा भी कैसे करेंगे ? जैसे-उदाहरणार्थ- सोचिए- ईस्लाम धर्म में बकरी ईद आदि बडे पर्व के दिन धर्म के नाम पर बडे पैमाने पर घर घर में सामूहिक रूप से सेंकडो बकरे काटे जाते है । क्या ऐसी आज्ञा उनका धर्म-ग्रन्थ "कुरानेशरीफ" देता है ? कहीं पर अल्ला खुदा ने या महम्मद पैगम्बर साहब ने इस तरह बकरे काटने का, मांसादि खाने का उपदेश दिया है ? फिर भी आज दिन तक यह प्रथा चल रही है ।

उसी तरह ईसाई धर्म में "मानवधर्म" *Humanity*" को ही बडा महत्व दिया गया है । और ऐसी मान्यता है कि ***The All-mighty God*** ने पशु-पक्षीयों को तो मनुष्यों के लिए ही उत्पन्न किया है । ***Animals*** में जीव होता ही नहीं है । इसलिए वहां भी मांसादि खाने में कोई प्रतिबंध ही नहीं है । जबकि बाइबल में ये शब्द है कि ***"Thou shall not kill at all"*** किसी भी जीव को नहीं मारना । यहां पर भी *at all* शब्द पर ध्यान से सोचिए कितने व्यापक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग है । फिर भी उससे उल्टे देखिए कितने व्यापक पैमाने पर जीव हिंसा हो रही है ।

इधर हिंदु धर्म की मान्यता देखिए । जगत् कर्तृत्ववादी मान्यतावाला यह धर्म है । अतः सब कुछ ईश्वर ने ही बनाया है । ऐसी मान्यता है । अब ऐसा कहते हैं कि—

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्व म्भुवा ।
यज्ञोऽस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ।।

—ब्रह्माजी ने यज्ञ के लिये ही स्वयमेव पशुओं को बनाया है; यज्ञ तो इस सारे चराचर विश्व के कल्याण के लिये है । इस-लिए यज्ञ में होने वाली हिंसा–हिंसा नहीं होती । यानी वह वध अवध कहलाता है ।

सोचिए जब मान्यता ही यह हो गई कि सृष्टि बनाने वाले ब्रह्माजी ने सभी पशुओं की सृष्टि का निर्माण केवल यज्ञ के लिए ही किया है । अतः यज्ञ में उन गाय–बैल–घोडे आदि पशुओं को मारने में न तो हिंसा ही है, ओर न ही पाप है । और यह भी कहा है कि—

औषध्यः पशवो वृक्षा स्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितिं पुनः ।।

—डाभ आदि औषधियां, बकरा [अज] आदि पशु, यूपादि वृक्ष, बैल, गाय, घोडा, आदि तिर्यंचों, तथा कपिंजल, चिड़िया आदि पक्षियों का यज्ञ के लिए जब नाश–किया जाता है, मारा जाता है, तो वे मरकर फिर देव–गान्धर्व आदि उच्च योनियो में जाकर जन्म लेता है ।

एष्वर्थेषु पशून् हिंसन् वेद तत्वार्थविद् द्विजः ।
आत्मानं पशूंश्चैव, गमयत्युत्तमां गतिम् ॥

यज्ञ—यागादि कर्मों के लिए पशु हिंसा करने वाला वेद के तात्त्विक अर्थ का ज्ञाता विप्र-ब्राह्मण अपने आपको और पशुओं को उत्तम गति स्वर्ग-मोक्ष में ले जाता है ।

सोचिए ! यह तो हिंदुस्तान के हिंदु धर्म की जिसमें शैव—वैष्णव - रामानुज आदि गिने जाते हैं । उनकी यह मान्यता है, वेद - वेदान्त में ऐसा लिखा है और यज्ञ - याग जैसे कर्म काण्ड में धर्म के नाम पर इतने पशुओं को काटने-मारने की बात है........ उसमें हिंसा - पाप - दोष कुछ मानते ही नहीं है । फिर तो हिंसा से बचने की बात ही कहां रही ? वे ही ब्राह्मण जिस गाय को पवित्र मानते हैं, उस गाय में तैंतीस कोटि देवता का वास है ऐसा मानकर गोमूत्र को भी पवित्र मानकर गौमाता की पूजा भी करते हैं उसी गाय की यज्ञ - याग में हिंसा भी करते हैं, मारते भी है । मनु भी इस विषय में स्पष्ट आज्ञा देते हैं कि—

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवत कर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥

एक प्रकार के यज्ञीय अनुष्ठान मधुपर्क में, जिसमें गोवध का विधान है, गाय मारी जाती है, ज्योतिष्टोम यज्ञ जिसमें पशु-वध करना विहित है—माता–पिता के पीछे किया जाने वाला श्राद्धाकर्म पितरों की शान्ति के लिए श्राद्ध, एवं दैवतकर्म जिसमें देवों के प्रति महायज्ञ आदि का अनुष्ठान किया जाता है, इन सब

अनुष्ठानों में पशुहिंसा करनी चाहिए अन्यत्र नही ऐसा मनुभगवान कहते हैं–यह मनुस्मृति में लिखा गया है ।

सोचिए—एक तरफ तो—**"मा हिंस्यात् सर्वं भूतानि"** किसी भी जव को मत मारो ऐसी आज्ञा देने वाला वेद ही यदि पशुहिंसा की बातें करें तो यह कहां तक सुसंगत है ? स्मृति–और वेद वेदान्त जैसे धर्मग्रन्थ ही यदि हिंसा का उपदेश दे और वे ही पशुवधरूप हिंसा में पाप नहीं है यह कहे तो फिर पापग्रन्थ–अधर्म ग्रन्थ किसको कहेंगे ? फिर तो संसार में कहीं हिंसा या पाप जैसी कोई वस्तु ही नहीं रही । इसका अर्थ तो यह हो जायगा कि कभी भी कोई भी किसी को भी मार सकता है !

इस तरह से इस्लाम–ईसाई–हिन्दुधर्म आदि में प्रत्यक्ष–या परोक्ष रूप में हिंसा का, पशुवध आदि का समर्थन करते हैं, उनके आचार-व्यवहार में हिंसा का स्वरूप दिखाई देता है । और वह भी धर्मके नाम पर इसलिए दशवैकालिक आगम यह कहता हैकि–

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्व–संजए ।
अन्नाणी किं काही ? किं वा नाहीइ छेअ–पावगं ?।।

प्रथम ज्ञान और फिर दया यही उचित है । क्योंकि अज्ञानी जीव जो कि जीवों के विषय में जानता ही नहीं है तो फिर वह जीवदया क्या पालेगा ? जीव रक्षा कैसे करेगा ? अतः जिनकी रक्षा करनी है–दया पालनी है–उनका ज्ञान पहले से होना अत्यन्त आवश्यक है ।

जीव शास्त्र – समस्त जीवों की गणना –

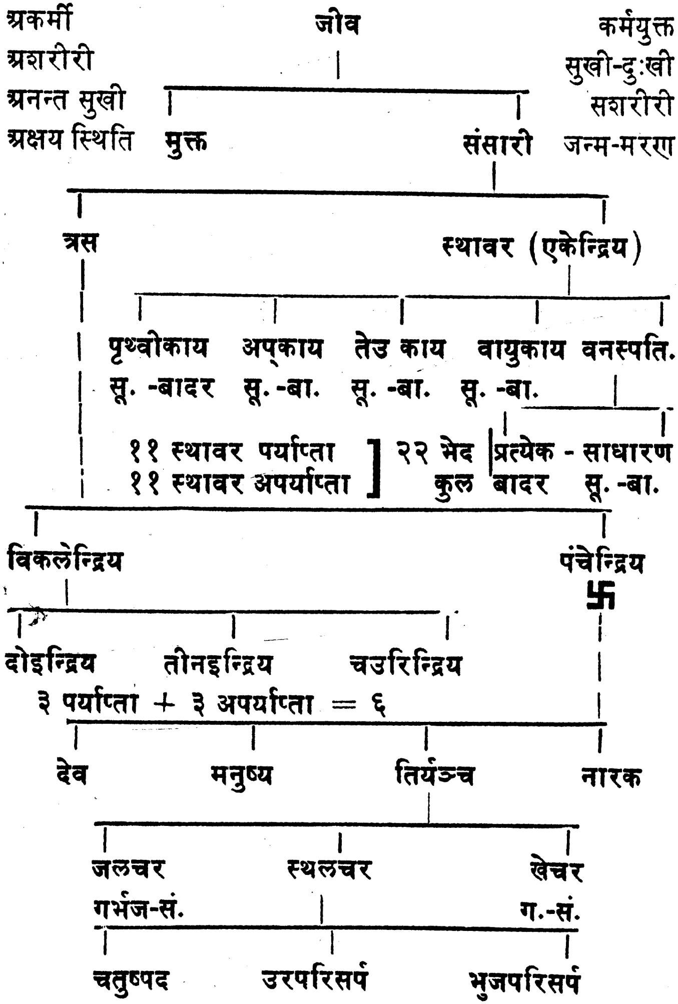

ग. सं.　　　ग-सं　　　ग. सं.

१० गर्भज–पर्याप्ता + १० संमूर्छिम अपर्याप्ता = २०

देव

भवनपति २१　　व्यंतर २६　　ज्योतिष १०　　वैमानिक

भवनपति २१: १०असुरकुमारादि　१५परमाधामी

वैमानिक: कल्पोपपन्न　　कल्पातीत

कल्पोपपन्न: १२ देवलोक　९ लोकांतिक　३ किल्बीषिक

कल्पातीत: ९ग्रैवेयक　५अनुत्तर　१४

व्यंतर २६

८ व्यंतर　८ वाणव्यंतर　१० तिर्यकजृंभंक

ज्योतिष

५चर　५अचर　१०

१० + १५ + ८ + ८ + १० + ५ + ५ + १२ + ९ + ३ + ९ + ५ = ९९

९९ पर्याप्त + ९९ अपर्याप्त = १९८ प्रकार कुल देव गति के।

मनुष्य

१५ कर्मभूमिज　　३० अकर्मभूमिज　　५६ अंतर्द्विपज

१५ + ३० + ५६ = १०१ गर्भज पर्याप्ता

१०१ गर्भज अपर्याप्ता

१०१ समूर्छिम

३०३ — कुल मनुष्यके प्रकार

७ नारक

रत्नप्रभा	**शर्करा.**	**वालुका.**	**पंक.**	**धूम.**	**तम.**	**महातम**

इन सात नरक भूमिओ में जन्मे हुए ७-नारकपर्याप्त + ७ नारक-अपर्याप्त = १४ नारक

मनुष्य गति → ३०३ भेद

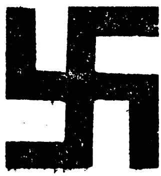

← देवगति १९८ प्रकार के-देव

२२+६+२०=४८
४८भेद तिर्यंच गति→

← नरकगति-नारक के-१४ भेद

३०३+१९८+४८+१४ = ५६३ ← समस्त जीवों के कुल भेद

समस्त १४ राज लोक के अनन्त ब्रह्माण्ड में जितने भी जीव हैं उन सब की गणना यहां पर एक संक्षिप्त तालिका (चार्ट) द्वारा बताई गई है। जीवों के भेदों - प्रकारों की गणना की गई है। समस्त संसार के सर्व जीवों के प्रकारों की संख्या ५६३ है। बस इससे ज्यादा एक भी प्रकार संसार में नहीं है। चार गतिरूप 卐 संसार में ये ही जीव एक गति से दूसरी गति में स्व - स्व कर्मानुवश सतत परिभ्रमण करते ही रहते हैं। एक गति में से दूसरी गति में आना - जाना जन्मलेना - मरना यह कर्मानुसार चक्र चलता ही रहता है। कौनसा जीव किस गति में जाता है यह नीचे के चित्र से ख्याल आ सकता है।

४ गति में परिभ्रमण—

इस तरह चारों गति में परिभ्रमण चलता ही रहता है।

૧.ચાર ગતિ

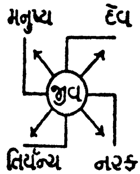

૨. મનુષ્યનું ચારે ગતિમાં ગમન

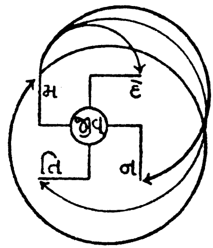

૩. તિર્યન્ચનું ચારે ગતિમાં ગમન

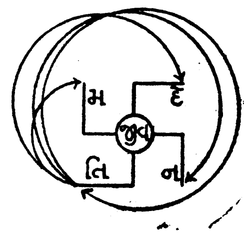

૪. દેવનું બે ગતિમાં ગમન

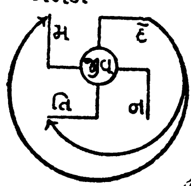

૫.નરકનું બે ગતિમાં ગમન.

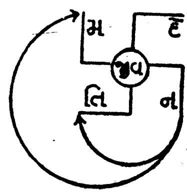

देव गति का जीव सीधे नरक में नहीं जाता है। और नारकी जीव भी सीधा देवगति (स्वर्ग) में नहीं जाता! उन दोनों को मनुष्य या तिर्यंच गति में ही आना अनिवार्य है। यहां से होकर अर्थात देव-तिर्यंच–या मनुष्य बनकर फिर नरक में जा सकता है। उसी तरह नारकी जीव भी मनुष्य-या तिर्यंचगति में एक जन्म करके–फिर पुण्य किये हैं तो–देवगति में जा सकता है। यह करने वाला कोई नियन्ता नहीं है। न कोई कुदरत है। जीव स्वयं ही अपने किये हुए पुण्यानुसार–सद्गति में जाता है। और उसी तरह अपने ही हिंसादि पापकर्मों के कारण दुर्गति में जाता है।

卐 →उपर की देव–और मनुष्य की २ गति—सद्गति है ।
→नीचे की तिर्यंच और नरक की २ गति—दुर्गति है ।

स्वर्गवास—या नरकवास—

यद्यपि संसार के लोक व्यवहार में सभी कोई अपने–माता–पिता–पुत्रादि के अवसान के वाद–"स्वर्गवास"–"दिवंगत" शब्द ही लिखते हैं । तो क्या कोई दुर्गति में जाता ही नहीं हैं ? जबकि तिर्यंचगति के पशु–पक्षी–कृमि–कीट–पतंग आदि जीव तो प्रतिदिन हम सभी प्रत्यक्ष देखते ही है । फिर कैसे संभव नहीं है । हमें यह ज्ञान नहीं है, और लोक व्यवहार में अच्छा ही लिखने–बोलने का व्यवहार सबको पसंद है अतः लिख देते हैं कि–हमारे पूज्य पिताश्री का "स्वर्गवास" हुआ हैं । लेकिन ऐसे वाक्य पत्रों में लिखकर रिश्तेदार संबंधीओं को भेजने के बाद सामने से उनकी तरफ से प्रत्युत्तर के पत्र में क्या शब्द लिखे हुए आते हैं ? इस तरफ भी थोडा ध्यान दीजिए–वे लिखते हैं–"बहुत बुरा हुआ···· बहुत ही बुरा हुआ कि आपके पिता का स्वर्गवास हुआ, "अरे···· रे··· ! खेद की बात है, दुःख की बात है कि–आपके पिता का का स्वर्गवास हुआ ।" आप लिखते हैं कि "स्वर्गवास"=स्वर्ग में वास । स्वर्ग-यह सद्गति में,-स्वर्गगति–देवगति के नाम से पहचाना जाता है । और आप "स्वर्गवास" शब्द लिखते है–जिससे सामने वाला यह समझ सके इनके पिताजी अच्छी····सबसे अच्छी स्वर्ग की सद्गति में गए हैं । फिर भी सामने वाला जब "बहुत बुरा हुआ····" आदि ऐसे शब्द क्यों लिखता है ? ऐसे शब्दों से आपको

गुस्सा नहीं आता हैं ? आपको खराब नहीं लगता ? अरे....! सोचो....! सोचो! यदि आपने नरकवास लिखा होता और सामने वाले ने "बहुत बुरा हुआ।" ऐसे लिखा होता तो ठीक था, मान भी लेते कि पिताजी का नरक में जाना यह बहुत बुरा हुआ ! लेकिन क्या पिताजी का स्वर्गवास=स्वर्ग में जाना भी बहुत बुरा हुआ ? अरे रे! ....कितना आश्चर्य ? आपका लोक व्यवहार ही आपको उत्तर दे देता है। अरे ! सभी स्वर्गवास ही लिखते हैं– तो क्या पुत्र के लिखने मात्र से पिता स्वर्ग में चले जाएंगें ? कि उनके अपने किए हुए पुण्य –पापानुसार–शुभ–अशुभ कर्मों के अनुसार अच्छी–बूरी–सद्गति–दुर्गति होगी ? और कोई नरकवास नहीं लिखता है लेकिन व्यवहार में रोज हम हिंसा–झूठ चोरी–बलात्कार–आदि का पाप देखते है... तो वे सब कहाँ जाएंगें ? यह तो बात ऐसी हुई कि अपनी माता को डाकन कौन कहे ? वैसे ही अपने पिता के लिए नरकवास कैसे लिखें ?... इसलिए चलो स्वर्गवास ही लिख दें। लेकिन इतना जरूर समझकर चलिए कि आपके लिख देनें मात्र से किसी का भी स्वर्ग–में वास नहीं होता है। उसके अपने अच्छे–बूरे–पुण्य–पाप–कर्मों के अनुसार उसकी गति होती है।

६— **पर्याप्तियां**—

आहार - सरीरिंदिय, पज्जत्ति - आणपाण भासमणे ।
चउ पंच - पंच - छप्पिय, इग विगला सन्नीऽसन्नीणं ।:

जीव मात्र संसार में स्व - स्व कर्मानुसार एक गति से दूसरी

गति में जाता है तो उसे वहां जो भी उत्पत्ति स्थान मिलता है। वहीं उसका जन्म स्थान है। माता की योनि में उत्पन्न होकर गर्भ में प्रवेश कर वह जीव संसार में रहने योग्य परमावश्यक चिजों को बनाता है। अब संसारी जीव तो सशरीरी ही है। बिना शरीर का तो कोई भी जीव संसार में है हा नहीं। इसलिये शरीर बनाने के लिए जीव उस - उस योनि में उत्पन्न होकर आहार को ग्रहण कर शरीरादि की जो रचना करता है। वे पर्याप्तियां कहलाती है। जीव को संसार में रहने के लिए

जो पर्याप्त वस्तुऐं हैं वे पर्याप्तियां कहलाती है। ऐसी ६ पर्याप्तियां शास्त्र में बताई गई है। उपर के चित्र में देखने से स्पष्ट समझ में आ जाएगा। हां यह बात जरूर है कि सभी जीव अपनी-अपनी - गति - योनि के अनुसार कम - ज्यादा - पर्याप्तियां बनाते हैं। —

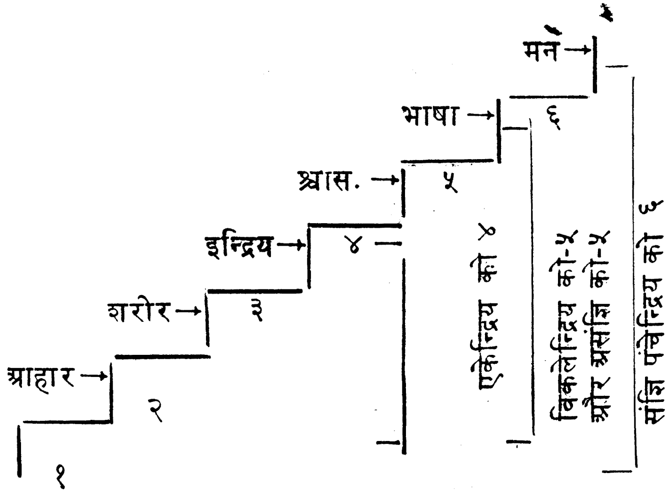

इस तरह सबसे पहले जीव उत्पतिस्थान माता की योनि में आहार ग्रहण करता है। आहार के माध्यम से ग्रहण किये हुए औदारिक पुद्गलों का पिण्ड बनाकर शरीर की रचना करता है। गर्भ में सर्वप्रथम शरीर एक मांसपिंड के जैसा रहता है और फिर धीरे धीरे उसका विकास होते होते शरीर में इन्द्रिया-निर्माण करता है और जो जीव जितनी इन्द्रियों का नामकर्म लेकर आया है वह अपने कर्मानुसार १, २, ३, ४, या ५ इन्द्रियां बनाता है। और इस तरह इन्द्रियां बनाकर फिर जीने के लिए श्वसो-च्छवास ग्रहण करता है। श्वासोच्छवास भी वर्गणा है। जीवन योग्य अनिवार्य है। पांचवे क्रम पर भाषा वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण कर भाषा पर्याप्ति पूर्ण करता है। जिससे सुख-दु:ख-व्यक्त करने के लिए योग्य व्यवहार हो सके। अन्त में ६ क्रम पर विचार करने योग्य मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण

मन पर्याप्ति पूर्ण करता है। जिससे कि वह सोच सके। इस तरह जीव मात्र उत्पति स्थान में कम-ज्यादा ऐसी ६ पर्याप्तियां निर्माण करता है। जिससे जीवन जीने में योग्य सहायता मिलती है। एकेन्द्रिय जीव ४, २, ३, ४ इन्द्रियवाले विकलेन्द्रिय जीव ५, और असंज्ञी अमनस्क जीव भी ५, और संज्ञि पंचेन्द्रिय देव-मनुष्य-नारक और तिर्यंच के जीव ६ पर्याप्तियाँ बनाते हैं। तभी जीवन जी सकते हैं।

१० प्राण— पणिंदि अतिबलूसा, साउ दस पाण, चउ छ सग अट्ठ।
इग-दुति चउरिंदीणं, असन्नी-सन्नीण नव-दस य ॥

प्राण

पांच इन्द्रियां — ३ बल — श्वासोच्छ्वास — आयुष्य

१ २ ३ ४ ५-इन्द्रियां मन वचन काया

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०

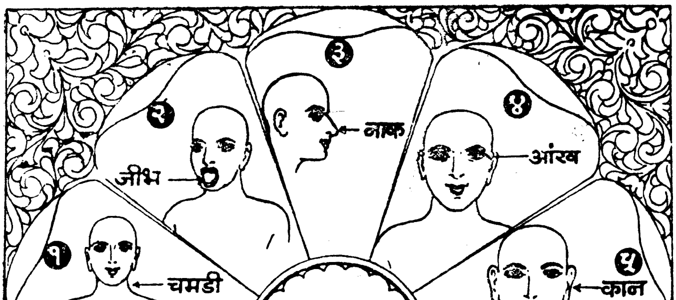

जिसके संयोग से जीव को जीने योग्य अवस्था प्राप्त होती है, और जिसके वियोग से जीव को मरणावस्था प्राप्त होती है उसे "प्राण" कहते हैं। व्यवहार से संसार में बिना प्राणों के कोई भी जीव सशरीरी के रूप में जीवन बीता ही नहीं सकता अतः ऐसे जीवनयोग्य दस प्रकार के द्रव्य प्राण है। जिसमें इन्द्रियाँ, मन-वचन-काया के ३ बल श्वासोच्छ्वास और आयुष्य यही मुख्य प्राण है। वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-शब्द के २३ विषयों की अनुभूति के लिए पाँच इन्द्रियों की अपेक्षा है। विचारों के लिए सोचने के लिए मनबल की, लोक में वाक् व्यवहार के लिए वचनबल की, और क्रिया प्रवृत्ति के लिए कायबल की इस तरह तीनों बल की आवश्यकता है। जीने के लिए प्राण-वायु को ग्रहण करने रूप-श्वासोच्छ्वास की आवश्यकता है। आत्मा को एक शरीर में नीयत-निश्चित काल तक रहने के लिए आयुष्य की आवश्यकता है। अतः जीवन योग्य ये १० प्राण है।

हां यह जरूर नहीं है कि सभी को दस ही प्राण हो। संभव है कम भी हो सकते हैं!

(१) एकेन्द्रिय-पृथ्वी-अप-तेउ-वायु-वनस्पति के जीवों को चार ही प्राण पर्याप्त हैं।

(२) दो इन्द्रिय वाले-अलसीए-कृमि आदि जीवों को ६, प्राण

(३) तीन इन्द्रिय वाले-चिंटी, मकोडा, खटमल, इयल, धनेडा, जू आदि के ७ प्राण,

(४) चउरिन्द्रिय जीवों को-जैसे कि-मक्खी, मच्छर, भ्रमर आदि

को ८ प्राण,

(५) अमनस्क–असंज्ञि पंचेन्द्रियों को ९ प्राण, और

(६) संज्ञि समनस्क-पंचेन्द्रिय–देव-मनुष्य नारकी–तिर्यंच पशु–पक्षी जीवों को–१० प्राण होते है

इस तरह शरीर (काया), श्वासोच्छ्वास, और आयुष्य ये तीनों तो प्रत्येक जीव मात्र को अनिवार्य रूप से होते ही हैं। और इन्द्रियादि में से अपने–अपने अनुसार कम–ज्यादा इन्द्रियां और तीन बल में से कम–ज्यादा बल इस तरह १० प्रकार के प्राण शरीरधारी जीवों को संसार में जीने के लिए उपयोगी होते हैं। इन्ही प्राणों के आधार पर जीव संसार में जीते हैं।

प्राणधारी–प्राणी—→

"प्राणाः यस्यास्ति स प्राणीः"—प्राण जिनको है वे प्राणी–प्राणधारी कहलाते हैं ! प्राणी का अर्थ केवल पशु–पक्षी ही नहीं लेकिन सभी प्राणी–गिने जाते हैं। देव–मनुष्यादि सभी प्राणी–प्राणी ही कहलाते हैं। इन्द्रियों की दृष्टि से जीवों को संसार में पांच विभाग में विभक्त किया गया हैं। हम जो रोज इरियावहीया सूत्र बोलते हैं–उसमें संक्षेप से जीवों का स्वरूप बताते हुए कहा है कि—

एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया।

प्राणी (प्राणधारी जीव)

एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय चारइन्द्रिय पंचेन्द्रिय

पृथ्वी, पानी, अलसिया, शंख चिंटी, मंकोडा, मक्खी देव, मनुष्य,

अग्नि-वायु कृमि, कोडा- जू, ईयल, मच्छर नारक, पशु
वतस्पति- कोडी आदि- धनेडा, खटमल, भंवरा, तितंली, पक्षी, तिर्यंच

इस तरह संसार के समस्त प्राणीयों का समावेश इन्द्रियों की अपेक्षा इन पांच विभागों में किया गया है। छट्ठी इन्द्रिय ही नहीं है। अतः छट्टी इन्द्रिय वाला कोई जीव ही संसार में नहीं है। मन को छट्ठी इन्द्रिय नहीं कहते। मन तो अतिन्द्रिय है। संज्ञी पंचेन्द्रिय देव–मनुष्य–नारक-तिर्यंच–पशु–पक्षी सभी जीवों को मन अवश्य होता ही है। असंज्ञी को नहीं होता। अतः मन वाले जीवों का भी समावेश पंचेन्द्रिय में ही हो जाता है। और एकेन्द्रिय से कम इन्द्रिय ही नहीं है, और पांच से अधिक इन्द्रियां ही नहीं है अतः सभी जीवों का समावेश इन पांच इन्द्रियों में ही हो जाता है। संसार में ऐसा कोई भी जाव ही नहीं है कि जिसका इन पांचों में समावेश न हो ऐसा एक भी नया नाम कोई भी नहीं बता सकता !

प्राण, प्राणी और प्राणातिपात

"पढमं नाणं तओ दया" के आगमिक सिद्धान्त के अनुसार– प्रथम जीवों के स्वरूप का ज्ञान इतने विवेचन से किया है। अब "तओ दया" उसके बाद उनकी दया पालने का भी विचार करना ही चाहिए। सभी जीवों की दया पालना, रक्षा करना यह धर्म है। और उनकी हिंसा करना, वध करना, उनके प्राणों का नाश करना आदि अधर्म है। पाप है। दया पालने का अर्थ ही है उनके भी प्राणों की रक्षा करना। चूंकि वे भी प्राणधारी प्राणी है।

जिस तरह से उनके प्राण टिके उस तरह से उन्हें भी प्राणधारणा के लिए-आहार-पानी-चारा देना...... खिलाना-पिलाना आदि प्रकार की शुश्रुषा करना दयाधर्म है। और उनके प्राणों का नाश हो ऐसी प्राणातिपात-हिंसा-वध की क्रिया करना अधर्म है। महा पाप है। प्राणीयों के प्राणों का अतिपात (नाश) ही प्राणातिपात है। इसीको दूसरे शब्दों में हिंसा, वध, मारना आदि शब्दों से कहते हैं। ऐसी हिंसा-अर्थात् विराधना-प्राणातिपात १० प्रकार से होता है। यह भी प्रतिक्रमण सूत्र-इरियावही में बताया गया है।

प्राणातिपातिकी १० प्रकार की क्रिया

१- **अभिहया-(अभिहताः)**- लात से मारकर घात करना

२- **वत्तिया-(वर्तिता)**- धूल से ढक दिया हो,

३- **लेसिया- (श्लेषिता)** जमीन के साथ घिसे गए हो।

४- **सघाइया- (संघातिताः)** परस्पर शरीरों का घर्षण हुआ हो।

५- **संघट्टिया-(संघट्टिताः)** स्पर्श से दुःख पहुंचाया हो।

६- **परियाविया(परिताप)**- परिताप-संताप पहुंचाया हो।

७- **किलामिया (क्लामिताः)**- खेद-विषाद उपजाया हो,

८- **उद्दविया (अवद्राविता)**- भयग्रस्त करके खूब डराकर अतिशय परेशान कर दिया हो।

९- **ठाणाओ ठाणं संकामिया- (स्थानात् स्थानं संक्रामिताः)**

एक स्थान से दूसरे स्थान में रख दिया हो- संक्रमण'

१०- **जीवियाओ ववरोविया- (जीवितात् व्यपरोपिताः)**—

जीवित-जीवन-जीव से ही अलग कर दिये हों, जीव और शरीर का ही वियोग कर दिया हो।

इस तरह आवश्यक सूत्र के चोथे अध्ययन के इरियावहीया (ऐर्यापथिक) सूत्र में १० प्रकार की हिंसा गमनागमन के मार्ग में होने की संभावना होने से बताई गई है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों के जो कम-ज्यादा प्राणों की संख्या है, उनके कम-ज्यादा प्राणों का बियोग या नाश या छेद उपरोक्त अभिहया आदि १० प्रकार की हिंसा प्रवृत्ति से होने की पूरी संभावना है। और इन दसों प्रकार का यदि मन-वचन-काया के तीनों योग से यदि भेदों का विचार करें तो तो हिंसाके प्रकारों की संख्या और भी बढेगी

(१) मानसिक अभिघातादि हिंसा १० प्रकार से।
(२) वाचिक " " " " "।
(३) कायिक " " " " "।

गमनागमन की क्रिया में हिंसा—

'गमन'- गम्-गच्छ धातु का जाना अर्थ है। आङ् उपसर्ग पूर्वक गम्-गच्छ धातु- प्रत्यागमन- आने अर्थ में है। गमनागमन अर्थात् आना और जाना! आना-जाना कहां होता है? मार्ग में। रास्ते पर! एक स्थान से दूसरे तक -मार्ग में आने-जाने की क्रिया-ऐर्यापथिकी क्रिया है। इर्या=ईरणम्-इर्या=जाना, चलना-तत्योग्य पथ-मार्ग-इर्यापथ-जाने का रास्ता कहलाता है। और "तत्र भवा ऐर्यापथिकी" उस जाने संबंधी क्रिया को ऐर्यापथिकी क्रिया कहते हैं। योगशास्त्र की स्वोपज्ञवृत्ति में मार्ग में गमनागमन जाने-आने की क्रिया को ऐर्यापथिकी क्रिया कही है। और उसमें

जो दोष लगता है वह भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवों की अभिहया आदि १० प्रकार की हिंसा–प्राणातिपात के कारण लगता है । किन-किन जीवों के प्राणातिपात का दोष लगता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए तो यहाँ तक कह दिया कि........ एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों की अभिहया आदि १० प्रकार की प्राणातिपातिकी क्रिया से विराधना का दोष लग सकता है । फिर भी मुख्य-स्थूल रुप से किन-किन जीवों के प्राणातिपात का दोष लगता है ? –यह दूसरी गाथा में बताते हुए कहा है कि→

पाणक्कमणे, बीय-क्कमणे, हरियक्कमणे, ओसा, उत्तिंग, पणग, दग – मट्टी – मक्कडा – संताणा – संकमणे ।

—अर्थात–जाते–आते मेरे द्वारा–त्रस प्राणीयों का अतिक्रमण, बीज और हरि वनस्पति के प्राणों पर आक्रमण ओस का पानी, चिटिंयों के बिल, सेवाल, कच्चे पानी, मिट्टि, और मकडी की जाल आदि जीवों के प्राणों का विशेष रूप से आक्रमण या अतिक्रमण द्वारा हिंसा हुई हो, उन जीवों के प्राणों का नाश हुआ हो "यह भाव ऐर्यापथिक क्रिया में इरियावही सूत्र से प्रकट किया जाता है ।

जिनमें प्राण है ऐसे त्रस–स्थावरादि प्राणी, बीज-और हरीवनस्पति, में भी एकेन्द्रिय जीव हैं, उनके भी चार प्राण है, उसी तरह ओस का पानी जो घास के उपर मोती के दाने की तरह चमकता है । उसके भी ४ प्राण है, क्योंकि वह भी एकेन्द्रिय जीव

है। हरियाली अमावस्यां के दिन लोक मेले के त्यौहार पर घूमने जाने आदि से वहां दौडने-घूमने आदि से हरिवनस्पति के और उस पर रहे हुए ओस के पानी के बिंदु जो कि अप्काय रूप है, एके-न्द्रिय जीव है, उसके ४ प्राण है, उनके भी प्राणों का अतिक्रमण होता है। हिंसा होती है।

उसी तरह मार्ग उत्तिग—अर्थात् जमीन में चिंटियों के बिल आदि होते हैं, उनमें से चिंटिया बाहर निकलती है, आती-जाती है, उन पर पैरादि पडे जिससे उनके भी प्राणों की हिंसा हो।

पणग—पंचरंगी-अंकुरित और अनंकुरित साधारण जाति की अनन्त जीवों से युक्त वनस्पति जो लीलफूग या फूंगी के नाम से भी पहचानते हैं—उनकी भी हिंसा हो, प्राणों का अतिक्रमण हों-क्योंकि वे भी ४ प्राणधारी प्राणी है।

दग-मट्टी—कीचड, जहां पानी और मिट्टी-कचरा आदि मिलकर रहा हुआ हो, दक-शब्द पानी के अर्थ में भी प्रयोग होता है। और मट्टी-मृत्ति-मिट्टी के अर्थ में है।

मक्कडा संताणा— मकडी (करोलिया) जाल बिछाकर रखती है और उस पर से या उसमें से पसार होना। संकमणे-अर्थात संक्रमण क्रिया हो, अतिक्रमण के ही अर्थ में सम् उपसर्ग से ही यह शब्द बनाया है। जो उल्लंघन करना, प्रवेश करना, अतिक्रमण के ही अर्थ में प्रयुक्त है। उस मकडी के भी प्राणों का अतिक्रमण होता होगा।

"जे मे जीवा विराहिया"—जीवनधारी जीने वाले ऐसे जिन जीवों की मैंने विराधना की हो, विराधना का अर्थ है उनको दु:ख–पीडा–त्रास पहुंचाया हो, मेरे गमनागमन की क्रिया से जिन जीवों के प्राणों का छेदन–भेदन हुआ हो, यह विराधना कहलाती है ।

जीवों की दया–पालना, रक्षा करना यह तो आराधना कहलाएगी, और उनही हिंसा, वध, छेदन–भेदन, और प्राणों का अतिक्रमण यह विराधना होगी !

इस तरह से गमनागमन आने–जाने की मार्ग की ऐर्यापथिकी क्रिया में प्राधान्य रूप से जिन–जिन जीवों की विराधना की संभावना हैं उन-उन जीवों के प्रकार यहां गिना दिए है, और शेष सभी जीवों की एगिंदिया आदि भेद से गणना की गई है। फिर बाद में यह विराधना किस तरह से हुई है यह दर्शाने के लिए अभिहया आदि १० प्रकार की क्रिया बताई है। अन्त में क्षमापना के भाव से इन दसों प्रकार से किसी भी जीव को जो भी दु:ख–पीडा पहुंचाया हो उसकी क्षमापन–मिच्छामि–दुक्कडं शव्द से की है। वह मेरा दुष्कृत, विराधना का खराब पाप मिथ्या हो निरर्थक–निष्फल–या नष्ट हो यह भाव है।

इतना इरियावही सूत्र हुआ। इससे की हुई जीव विराधना का स्मरण कर **क्षमापना** करते है और आगे विशेष शुद्धि के लिए–तस्स उत्तरी बोलकर उस पाप कर्म के लिए आगार सूत्र–

अन्नंत्थ बोलकर-? लोगस्स का काउस्सग्ग करते हैं। काउस्सग्ग आत्मविशुद्धि, पाप धोने के लिए प्रायश्चित्तरूप है। और फिर प्रगट लोगस्स सूत्र-नामस्तव सूत्र द्वारा २४ जिनेश्वर भगवंतो की स्तुति करली जाती है। इतनी यह इरियावही की विधि कही जाती है। की जाती है। यह विधि न करने वाला विराधक साधु मरकर आश्रम में कौशिक गोत्रवाला तापस बना और वहां से मरकर चंड-कौशिक नामक-सर्प बना एक आराधक जीवरक्षक जीव साधु मरकर दूसरे भव में-जीव घातक भयंकर दृष्टिविषी सर्प बना।

और इसी इरियावही के आराधक-क्षमा-याचना करने वाले-अतिमुक्तक कुमार-(अइमुत्ता मुनि) केवल ज्ञान को पा गए।

इरियावही करते हुए— केवलज्ञान—

बहुत ही छोटी आयु - ८ - ९ साल के बचपन में गोचरी के निमित्त गौतमस्वामी के साथ घर दिखाने के लिए जाने के बाद साथ - ही - साथ समवसरण में पहुंचे और अतिमुक्तक कुमार ने वीर प्रभु की देशना सुनते हो दीक्षा ली। चारित्र अंगीकार करके साधु बने। एक बार स्थंडिल भूमि से लौट रहे थे कि मार्ग में एक छोटे से पानी से भरे खड्डे में बच्चों को कागद की नॉव बनाकर तैराते हुए देखकर उनका भी बालस्वभाव लालायित हो गया। और उन्होने भी अपने काष्ठ पात्र - तिरपनी को पानी में रखा। वह भी तैरने लगी। हवा के साथ पानी मैं बहती हुई तरपनी आगे बढने लगी। दूसरे बच्चों की कागज की नावें टूट-

कर डूबने लगी। बालस्वभाव के कारण इनको भी मजा आने लगा। बड़े आनंद में हंसने लगे।

यह प्रसंग अन्य बडे स्थविर साधुओं ने वहां से पसार होते हुए देख लिया और जाकर वीरप्रभु से निवेदन किया।

बालमुनि अतिमुक्तक के आते ही प्रभु ने फरमाया हे वत्स ! जीव विराधना के दोष से बचने के लिए इरियावहि विधि (ऐर्यापथिकी क्रिया) कर लो। और समझते ही अतिमुक्तक ने इरिया वही विधि प्रारंभ कर ली। इरियावही का सूत्र बोलना प्रारंभ किया। और "पणग ...... दग ...... मट्टी ... ..." ये शब्द आते आते उनको भान आया कि अरे रे........! यह मैंने क्या किया ? मैं तो साधु बना हुं, दीक्षा ली है ... और इस'दग' कच्चे पानी और नीचे मिट्टी.... के उपर पानी पर तिरपणी की नांव तैराई........ अरे रे ! यह तो मैंने जीव विराधना की है, ... जीव हिंसा का भागीदार बना हुं। बस इतनी जागृति आते ही उन सरल आत्मा ने अपने किये हुए पापों की तीव्र आलोचना प्रारंभ कर दी और क्ष'पक श्रेणि के श्रीगणेश हो गए। बस इन्ही शब्दों पर तो उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। धन्य थे वे महात्मा बाल्यावस्था में ही केवलज्ञान भी ले लिया। इतने महत्व की है यह इरियावहीया। पाप निवृति को छोटो भी क्रिया कितने बडे फल तक पहुंचा ले जाती है।

हिंसा का लक्षण और व्याख्या—

हिंसा क्या वस्तु है ? यह क्यों होती है ? कोई भी जीव

हिंसा कब और क्यों करता है ? इस बात को बताते हुए वाचक मुख्यजी उमास्वातीभगवंत ने अपने तत्वार्थाधिगम सूत्र में यह सूत्र लिखा कि— **"प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा"** — अर्थात् प्रमाद के कारण किसी के भी प्राणों का नाश करना हिंसा कहलाती है। प्रमाद भाव यह आश्रव मार्ग — अर्थात् कर्मो के आगमन का भी निमित्त है, और कर्म बंध का कारण है। मद–विषय - कषाय - निद्रा और विकथा इन पांच प्रकार का प्रमाद कहा गया है। विषय कषायादि प्रमादों के आधीन होकर जीव जो प्राणीवध करता है वह हिंसा कहलाती है। क्रोध-मान-माया-लोभादि कषाय तो सैंकडो बार हिंसा में परिणत होते देखे गए हैं। क्रोधादि भावों में तीव्र आर्त-रौद्र ध्यान में फिर मारने की बातें अनेक खडी हो जाती है, और फलस्वरूप जीव मारामारी पर आ जाता है। और परिणाम स्वरूप खून-वध आदि की संभावना खडी हो जाती है। यहां पर जीवरक्षा के परिणामों का अभाव, ही प्रमाद कहलाता है। या आत्मा अपने मूलभूत गुणों के स्वस्वरूप के चिन्तन में स्थिर न रहकर राग-द्वेषादि कषायों की विकृति के-कर्मों के आधीन होकर अन्य जीवों को दुःख-त्रास-पीडा आदि पहुंचाने की जो प्रवृत्ति करता है वह हिंसा कहलाती है।

जिसमें प्राण व्यपरोपण की क्रिया होती है वह हिंसा है। आरोपण का उल्टा शब्द है व्यपरोपण। अर्थात आरोपण-आरोपित को भी हटाना। जिन प्राणों का आरोपण जीव में (प्राणी

में) है उनको हटाना, दूर करना, या नाश करने की क्रिया को हिंसा कहते हैं। या-दूसरे और भी लक्षण है-**"प्राण वियोग प्रयोजन व्यापार"**-अर्थात प्राणीयों के प्राणों का वियोग करने रूप जो व्यापार या प्रवृत्ति (क्रिया) है वह हिंसा कहलाती है। कुछ शब्दों के परिवर्तन के साथ इसी भाव को दूसरे शब्दों में देखिए-**"प्राणी दुःखसाधन-व्यापारो हिंसा"** अर्थात् किसी भी प्राणी को दुःख देने के जो भी साधन है उनका व्यापार-प्रवृत्ति- क्रिया या उपयोग हिंसा कहलाती है। तीनों ही लक्षण में बात तो (अर्थ तो) एक ही है। "हिंसि-हनने" धातु से हनन करना, वध करना, मारना आदि अर्थ में हिसा शब्द की रचना संस्कृत व्याकरणानुसार हिंसि धातु से हुई है।

प्राणों का वियोग-हिंसा—

किसी के ४, ६, ७, ८, ९, और १० इस तरह से भिन्न-भिन्न जीवों के प्राण होते हैं। उनमें से १- २- ३- या ज्यादा या सभी प्राणों का वियोग हो तो भी हिंसा ही कहलाती है! अभिघात-आदि की क्रिया से मानों की चलते-चलते चिंटि-मकोडे पर पैर आ गया और तुरंत पैर उठा लेते ही आपने देखा कि नहीं-नहीं मकोडा मरा नहीं है। बच गया है, चलने लगा है-लेकिन आपने यह नहीं देखा कि इसका नाक तो नहीं टूट गया? मुंह तो नहीं टूट गया! अरे रे····मक्खी की आंखे तो नहीं फूट गई? इस तरह इन्द्रियां भी जो कि प्राण रूप में है तो क्या उनका वियोग नहीं हो सकता? जरूर हो सकता है। उसी तरह काया

का छेदन–भेदन तो नहीं हुआ है ? यह भी हिंसा ही है। दसों प्रकार के जो प्राण है उनमें किसी का भी छेदन–भेदन–वियोगादि हो जाना हिंसा ही है।

इन्द्रियों से सुख भी और दुःख भी—

पांचों ही प्रकार की इन्द्रियां जो कि सुख में कारण है, सहायक है, वे ही दुःख में भी कारण बन सकती है! स्पर्शेन्द्रियादि पांचों ही इन्द्रियों से जब हम २३ प्रकार के विषयों में शुभ–अच्छे विषयों को–अनुकूल विषयों को भोगते हैं तब सुख मिलता है और उन्ही इन्द्रियों से प्रतिकूल अप्रिय विषयों का अनुभव हो तब वेही दुःखरूप लगते हैं। जैसे कि अच्छा मुलायम स्पर्श हुआ तो मजा आई लेकिन कठोर स्पर्श हो तो पसंद नहीं आता है। मोठि वस्तु प्रिय–अच्छी लगती है। और कटु–कडवा स्वाद आए तो मुंह बिगडता है। इत्र–चंदनादि की सुगंध प्रिय है, और मल–मूत्र–विष्ठा, गंदकी–गटर की दुर्गंध जो कि अप्रिय है दुःखदायि है उसका भी ग्रहण तो नाक के द्वारा ही होता है। अच्छा–बुरा दोनों ही आंखों से ही देखा जाता है। वैसे ही प्रिय–और अप्रिय शब्दों का श्रवण भी कानों से ही होता है। इस तरह ये इन्द्रियाँ ही जितनी सुख में उपयोगी है उतनी ही दुःख में भी सहायक है। इसलिए उन–उन–इन्द्रियों के धारक एकेन्द्रिय-द्विन्द्रियादि जीवों को दुःख–पीडा–वेदना का अनुभव भी उन–उन इन्द्रियों के ही द्वारा होगा। अतः इन्द्रियां भी प्राण ही है। उनका भी छेदन–भेदन–वियोग न हो जाय यह पूरा ध्यान रखना ही पडेगा।

राजा कुमारपाल ने चिंटि को बचाई—

बडे नूकीले कांटों वाली लाल चिंटि एक दिन कुमारपाल के पैर पर चढ गई। जंघा पर जोर से चिपक गई। और अपने सूंई जैसे नूकीले कांटो को शरीर की चमडी के छिद्रों में घूसेड दिये। और खून चाटने लगी। आखिर इतनी छोटी चिंटि कितना खून पीने वाली है ? उसका भी शरीर कितना है ? और उसके शरीर में कितना खून समाएगा ? लेकिन फिर भी वह स्वाद का तो अनुभव करती ही है। उसे तो बडी मजा आ रही है, लेकिन हमारे शरीर में तो वह वेदना बडी तीव्र हो जाती है। ऐसी स्थिति में हम क्या करते है ? उस चिंटि को झट पकडकर-उठाकर फेंक देते हैं। लेकिन क्या पकडते समय हमने उसके जीवन के बारे में सोचा ? पकडने से खिचने से क्या वह निकल जाएगी ? उसको सुख का प्रिय विषय मिला है तो वह भी उसमें मस्त है, और मग्न है। अब वह भी छोडने को तैयार नहीं है, और हम भी खिचकर निकालना चाहते हैं। सोचिए ऐसी स्थिति में क्या परिणाम आएगा ?

चिंटी के शरीर के दो टुकडे हो जाएंगें ! वह बिचारी मर जाएगी। उसके तो प्राण पंखेरू उड जाएंगें। और वह भी हमारी ही वजह से ! उसके प्राणों का वियोग उसकी हिंसा ही कहलाएगी। ऐसे समय में जीवदया प्रतिपालक परमार्हत् कुमारपाल राजा ने एक चाकु से अपने शरीर के उतने भाग की चमडी काटकर अलग रखदी। अब वह चिंटी भी जिन्दी रह गई। और

उसको उसका आहार भी मिल गया। अब जब तक वह उसे चाटे–चाटती रहे। जब छोडना चाहे तब छोडकर चली जाय! राजा ने सोचा मेरे इतने छोटे से शरीर में से इतना छोटा–सा टुकडा मांस का निकल गया तो मेरे शरीर में क्या फरक पडने वाला है? लेकिन चिंटि तो बच गई। उसके प्राणों की तो रक्षा हो गई। कितने उदार विचार थे। कितने ऊंचे भाव थे जीव रक्षा के।

जीवरक्षा की दया भावना—

शास्त्रों में ऐसे भी प्रसंग दर्शाए गए हैं कि - शरण में आए हुए कबुतर जैसे छोटे प्राणी की रक्षा के लिए हुए राजा मेघरथ ने बाज पक्षी को उसकी याचनानुसार तराजु के एक पल्लें में बैठा कर स्वयं तलवार से अपनी जंघा से मांस के टुकडे काट - काट कर दूसरे पल्ले में रखते ही जाते हैं। और अन्त में अपने सारे शरीर को पल्ले में रखकर बाज पक्षी को कह दिया कि लो भाई! अब यह तो तुम्हारा ही भक्षण है।

बाज तो मायावि देव ही था। वह मेघरथ राजा के सात्विक भाव - जीवदया के ऊंचे भाव पर मुग्ध हो गया। और दैवी रूप प्रकट कर काफी प्रशंसा की और दोनों ही चले गए। यही मेघ-रथ राजा जो कि आगे चलकर हमारे १६ वें तीर्थंकर शांतिनाथ भगवान बने। सोचिए तलवार से अपनी जांघ का मांस काट - काट कर रखते ही गए। क्या यह सामान्य बात है? कितनी प्राणी दया थी।

मुनि महात्मा के मन में चिटीयों के प्रति अपार करूणा भावना उमड आई, परिणाम स्वरूप उन्होंने विषैले - कटु तूंबडी के शाक को स्वयं ही खा लिया, लेकिन अनेक जीवों के प्राणों की रक्षा की। शास्त्रो में ऐसे अनेक प्रसंग है।

मृत्यु की व्याख्या क्या है ?—

हम कहते हैं कि "मर गया"। तो मौत या मृत्यु क्या चीज है ? यह क्या प्रक्रिया है। मृत्यु किसे कहते हैं ? इस विषय पर आज भी विज्ञान के क्षेत्र में बडा विवाद चल रहा है। मनुष्य मर गया है यह कब घोषित किया जाय ? क्या हृदय बंध पड जाय तब या मष्तिष्क काम करना बंध कर दे तब ? हृदय की गति मंद होते ही फिर मसाज करके कुछ श्वास उसे दिया जाय तो थोडी देर के लिए फिर हृदय धबकने लगता है, और लोकव्यवहार यह कहने लग जाता है कि मरा हुआ भी जिन्दा हो गया। डॉक्टर ने मृत को भी फिर से जिन्दा कर दिया।

लेकिन ऐसी बात भी नहीं है। इसी तरह मसाज से या प्राणवायु देने से मरे हुए भी जिन्दे हो जाते तो........ तो फिर संसार में कोई मरता ही नहीं। सभी अमर ही बन जाते। लेकिन रोज सेंकडों मरते हैं। यह भी इतनी ही स्पष्ट बात है। अन्त समय तक अस्पताल में नाक में नली लगी है, और प्राणवायु सतत चालु है, डॉक्टर पास में खडा है, मसाज भी चालु है फिर भी दर्दी मरता ही है।

आखिर मरने का क्या अर्थ है ? मरने का मतलब क्या ? प्राणवायु का खतम होना मात्र ही नहीं है। इरियावही में और तत्वार्थ में हिंसा के लक्षण के सूत्र में स्पष्ट ही व्याख्या दी है कि —

(१) **"जीवियाओ ववरोविया"— या "प्राणव्यपरोपण"** जीवित का वियोग, या प्राणों का नाश। अर्थात जीव और शरीर का वियोग ही मृत्यु है। इसीलिए हम कहते हैं "जीव गया" "स्वर्गगमन" आदि मृत्यु के अर्थ में शब्द प्रयोग करते हैं। जीव जब शरीर को छोडकर चला गया तब मृत्यु निश्चित हुई। फिर भले ही मसाज करें या प्राणवायु देते रहें कुछ भी फरक नहीं पडेगा। अब प्रश्न यह उठता है कि जीव शरीर छोडकर क्यों गया ? इसका शास्त्रीय उत्तर इतना ही है कि— उस जीव का आयुष्य कर्म समाप्त हो गया था। आयुष्य भी दसवां प्राण है। और वह आयुष्य कर्मानुसार है। यह आयुष्यकर्म पूर्व (गत) जन्म का बंधा हुआ है। उसकी काल - अवधि पूर्ण होने पर १ समय मात्र भी जीव रूक नहीं सकता। या उपक्रम के निमित्तों में भी आघात - प्रत्याघात से जीवनदोरी तूटने पर आयुष्य कर्म सब उसी समय समाप्त हो जाता है, फिर तो जीव को जाना अनिवार्य ही होता है। आयुष्य कर्म के दल या आयुष्य - प्राण समाप्त हो जाने के बाद कोई भी जीव नहीं ठहरता वह शरीर छोडकर चला ही जाता है–। कहां जाता है ? आगामी जन्म में। स्वकर्मोपार्जित आगामी गति-जाति में जाता हैं। वहां नया शरीर बना

कर फिर रहेगा। और यहां बांधे हुए नए आयुष्य कर्म के अनुसार अगले जन्म में उतने काल तक रहना पडता है।

मृत्यु और हिंसा—इस तरह दसों प्राणों का संपूर्ण वियोग या जीव–शरीर का वियोग मृत्यु कहलाती है। यही मृत्यु जब सहज–स्वाभाविक बिना किसी कारणवश, निमित्त वश होती है तो मृत्यु सहज मृत्यु कहलाती है। लेकिन हमारी मौत दूसरे के हाथ से हो, दूसरे की वजह से, कारण से हो तो, या किसी के निप-जाने से हो तो वह हिंसा कहलाती है। मरना और मारना इन दोनों शब्दों को हम अच्छी तरह समझते है। अपने आप मौत हो जाय यह "मरना" सहज मरना है। और जानबूझकर जीवन-लीला को संक्षिप्त कर, तोडकर, मृत्यु को आमंत्रण देकर (बूला-कर) मरना यह आत्महत्या है। इसमें भी मृत्यु ही है! और यही मृत्यु यदि दूसरों के द्वारा यदि हो, अर्थात कोई यदि मारे और मृत्यु हो तो वह हिंसा है। वध है। प्राणातिपात का महा-पाप है।

द्रढप्रहरी ने एक साथ ४ को मारा—

मर कहेतां पण दुःख हुवे रे, मारे किम नवि होय।
हिंसा भगिनी अति बूरी रे, वैश्वानर नी जोय रे॥

श्रीमान महोपाध्याय यशोविजयजी वाचक अठारह पापस्था-नक की सज्झाय के अंतर्गत प्रथम प्राणातिपात की सज्झाय में ये शब्द लिखते हुए कहते हैं कि–अरे! "मर" "मरजा", "मर

जाम्रो तुम", तुम ग्रभी मर जाग्रोगे इतने शब्द कहते हुए ही सुनने वाले को बडा दुःख होता है तो फिर मारने से तो दुःख क्यों नहीं होगा ? शब्द से ही दुःख होता है तो तो फिर मारने की क्रिया से हिंसा से, वध से तो साक्षात् कितना दुःख होगा ? जरूर-सौगुना भी होगा । इसलिए यह हिंसा कितनी बूरी चीज है ? ग्ररे यह तो क्रोध को भयंकर ज्वाला के समान है । जलती ग्राग जैसी है ।

ग्रपने एक प्रहार से किसी के दो टुकडे कर देने वाला द्रढप्रहारी के नाम से प्रसिद्ध हो गया । उसका वार कभी खाली नहीं जाता था । एक ही प्रहार से सामने वाला मर जाता था । ऐसे निर्दयी क्रूर हिंसक द्रढप्रहारी ने एकदिन ग्रपने साथी चोरों के साथ एक ब्राह्मण के घर में चोरो के हेतु से प्रवेश किया । ग्रत्यन्त गरीब ग्रवस्था के उस ब्राह्मण के घर में चोरी करने जैसी कोई वस्तु नहीं थी । उस दिन ब्राह्मण के दो छोटे बच्चे ने रोकर, जिद्दकर खीर बनवाई थी । माता ने कहीं से मांगकर दूध-शक्कर-इकट्ठे किये थे ग्रौर खीर बनाई थी । ग्राने वाले चोरों में से एक-दो ने खीर देखी ग्रौर सोचा चलो दूसरा चोरी के योग्य कुछ भी नहीं है तो ग्राज खीर की ही चोरी करलें । इस विचार से खीर लेकर वे खाने लगे । बच्चे इस बात को देखर चीख-चीख कर रोने-चिल्लाने लगे । ग्रौर रोते-रोते दौडकर बाहर से ग्रपने पिताजी को बुला लाए ।

पिताजी ने ग्राते ही चोरों को देखकर डंडा लेकर मारने लगे, ग्रपने साथी चोरों को जोर से मारते देखकर दृढप्रहारी तीव्र

गुस्से में आकर उस ब्राह्मण को मारने के लिए दौडा। नंगी तलवार हाथ में उठाए हुए है, और यमराज के जैसा विकराल स्वरूप करके दौडा! इतने में ब्राह्मण के घर की गाय बीच में आई, तो उस द्रढप्रहारी ने एक ही प्रहार से गाय की गरदन पर वार किया और गाय के शरीर के दो टुकडे हो गए। फिर द्रढप्रहारी ने दूसरा प्रहार उस दरिद्र ब्राह्मण पर किया। करते ही एक क्षण में जैसे पेड से फल नीचे गिराते हैं उसी तरह उस ब्राह्मण का मष्तक धड से अलग करके नीचे गिरा दिया। यह देखकर ब्राह्मण की पत्नी बीच में पडने के लिए अंदर से दौडी आई—और क्रन्दन करती हुई चिल्लाई ओ पापी यह क्या कर दिया?... इतने में तो उस क्रूर द्रढप्रहारीने उस ब्राह्मणी के बढे हुए पेट को देखकर उसी पर तलवार चला दी। ब्राह्मणी स्त्री के शरीर के तो दो टुकडे हुए ही लेकिन उसके गर्भ में जो बालक था उसके भी दो-तीन टुकडे हुए, दोनों ही जमीन पर ढल गए। खून का तालाब भरने लगा, और कुछ क्षण तक उस मासूम गर्भ को तडपते हुए देखकर द्रढप्रहारी का दिल पिघलने लगा! इधर दो बच्चे करूण स्वर में क्रन्दना करते चिल्लाते हुए रो रहे थे। बच्चों की दर्द भरी चीख और गर्भ का तडपना देखकर उस क्रूर हत्यारे का दिल पिघल गया! और मन में आवाज उठी....अरे....हे! पापी क्रूर कर्मों से तेरी क्या दशा होगी? क्या गति होगी? अरे रे! लोक व्यवहार में कहते हैं कि—ब्राह्मणं हत्या भी नरक में ले जाती है, गाय की हत्या, स्त्री की और भ्रूण हत्या... एक-एक की हत्या नरक

मैं ले जाती है, तो मैंने तो चारों हत्याएँ कर डाली है। जबकि एक हत्या भी दुःखदायि होती है....। अरे रे ...। अब कहा जाउं ? अब मुझे दुर्गति से कौन बचायगा ? हाय किसकी शरण लु ।.... इस विचारों से निकलपडा। गांव के बाहर उद्यान में पहुंचा, वहां एक साधुसंत महात्मा को देखकर उनके चरणों में पड़ा, महात्माजी बचाइए....बचाइए मुझ पापी को बचाइए....। भगवन् अब मेरे जैसे के लिए आप ही शरण हो! साधु महात्मा ने कहा देखो भाई! मेरी शरण से क्या होगा ? मैं तुम्हें कैसे बचा सकूंगा ? धर्म की ही शरण आत्मा को अधोगति में जाने से बचाती है। तुम चारित्र धर्म स्वीकार करो, और तीव्र तप की साधना करो....। अपने पापों को मुनि के समक्ष प्रगट कर उस द्रढप्रहारी ने तल-वार-कपडे आदि फेंक कर दीक्षा ली। एक खूनी हत्यारा साधु बना। साधुपना लेते ही तीव्र प्रतिज्ञा की कि हे महाराज! मुझे ऐसे पच्चक्रवाण दीजिए कि-"जहां तक मुझे मेरे किये हुए पाप याद आएंगें वहां तक चारों प्रकार के आहार-पानी का त्याग। पानी भी मुँह में नहीं डालूंगा ?

भीस्म प्रतिज्ञा कर प्रतिदिन मुनि द्रढप्रहारी गोचरी (भिक्षा) के लिए उसी कुशस्थल गांव में जाते हैं। लोका देखकर डंडा मारते हैं, पत्थर फेंककर मारते हैं। गाली देते हैं... हां यह वही हत्यारा है मारो...मारो... उनके पात्र फोड देते....। इस तरह रोज खूब सताते है। कोई आहार पानी भी नहीं देता! और मुनि द्रढ-प्रहारी उपवास का पच्चक्खाण करके तप। वृद्धि करते हैं। इस

तरह छ महिने बीतने लगे। अब अपने-आपको पश्चाताप की धारा में चढाकर खूब समता में रहने वाले मुनि ने प्रतिदिन उपसर्ग सहन किये। तप की तीव्राग्नि में कर्मों को जलाने लगे-ठीक ही कहा है कि—

दृढप्रहारी हत्या करी, कीधा कर्म अघोर।
तो पण तपना प्रभावथी, काढ़्या कर्म कठोर॥

"जो कर्मे शूरा थे वे अब धर्मे शूरा बने" और सारी शक्ति पाप कर्म काटने में लगा दो। इस तरह छ महिने बीतने लगे! अपनी आत्मा को खूब समझाया अरे जीव! तेरा प्रहार तो कितना भयंकर था? एक ही प्रहार में लोक तत्काल मृत्यु के शरण होते थे तो ग्राम लोकों के ये प्रहार तो किस हिसाब में है? इस तरह आत्मा को खूब समझाकर समताभाव में रखकर तीव्र भावना, ध्यान की तीव्राग्नि से सारे कर्म यहीं जलाने है इस निश्चय से जो प्रहार में दृढ थे वे अब कर्मक्षय में दृढ हो गए और उस कठोर तप एवं तीव्र ध्यानानल में कर्मों की राशि को पश्चाताप में काटते-काटते चारों घनघाती कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया। केवली-सर्वज्ञ-वीतरागी बने। अन्त में मोक्ष में गए! घोर हिंसा के महापाप से बचकर-आत्मा को मुक्तकर शाश्वत सुख के धाम में पहुंचे!

पाप और प्रायश्चित्त का अजीब चक्र—

पाप करके प्रायश्चित्त करना और प्रायश्चित्त करके फिर

पाप करने का यह अजीब चक्र हमारे जीवन में चलता ही रहता है। संसार में पाप करने वाले कितने ? और पश्चाताप करने वाले कतने ? और पश्चाताप के बाद उस पाप का प्रायश्चित्त करने वाले कितने ? यद्यपि बहुत थोडे ही होंगे ! और उसमें भी प्रायश्चित्त के बाद फिर पाप न करने वाले कितने ? कई बार यह भी देखा जाता है कि-प्रायश्चित्त एक बार-दो बार, तीन बार-दस-बार भी कर लेते हैं-फिर भी पाप की परंपरा नहीं छूटती। सर्वथा पाप का त्याग कर ही देना चाहिए वह तीव्रता कभी नहीं भी आती। और पाप-और प्रायश्चित्त का चक्र चलता ही रहता है। वैसे भी पाप और प्रतिक्रमण का भी चक्र चलता ही रहता है। जीव दोनों के आदी हो जाते हैं। वहाँ न तो पाप के विषय में गंभीरता से सोचता है और न ही प्रतिक्रमण के विषय में गंभीरता से सोचता है। इस तरह दोनों ही क्रिया क्रमबद्ध चलती रहनी है ऐसी स्थिति में प्रतिक्रमण की क्रिया निरस बन जाती है। जड बन जाती हैं। केवल क्रिया-क्रिया ही रह जाती हैं। उसमें से सक्रियता दूर हट जाती है। ऐसा नहीं होना चाहिए प्रायश्चित्त में या प्रतिक्रमण में फिर वह पाप न करने का दृढभाव होना चाहिए। पुनः पाप न करने की प्रतिज्ञा होनी चाहिए ! यह भाव ही क्रिया को जीवंत साधना, सरस क्रिया बनाएगा।

कुल परंपरागत पापों का त्याग—

यह जरूरी नहीं है कि कुल-परंपरागत पाप का व्यापार जो बाप दादों से चला आ रहा है वह पुत्र-पौत्र को करते ही

रहना चाहिए। नहीं ऐसी कोई ग्रावश्यकता नहीं है ! मानों कि पूर्व जन्मों के किसी पाप कर्म वश-नीचगोत्र कर्म वश ग्राज नीच-ग्रधम कुलमें जन्म मिला हो, ग्रौर उस कुल या गोत्रमें हल्के पापका नीच कृत्य का व्यवसाय भी चलता हो तो उस पाप से भी बचना चाहिए ग्रौर संभव हो तो सारे परिवार को बचाना भी चाहिए ।

कालशौकरिक कषाई जो कि ग्रभवी जीव है, ग्रौर प्रतिदिन ५०० पाडा मारने-काटने का भयंकर हिंसा का व्यापार करता था। ऐसे भयंकर तीव्र हिंसा के पाप के फलस्वरूप उसे सांतवी नरक में ही जाना पडा। यद्यपि कालशौकरिक कषाई भगवान महावीर के समवसरण में बैठकर प्रतिदिन देशना-उपदेश श्रवण करता था ! फिर मी उस ग्रभवी-मिथ्यात्वी जीव को परमात्मा की देशना की अंशमात्र भी ग्रसर नहीं होती थी। फिर वही देशना सुनता था, फिर वही हिंसा करता था। परमात्मा ने यद्यपि बहुत कुछ समझाया, ग्ररे ! श्रेणिक जैसे सम्राट ने तो उसे एक दिन कूँए में भी उतार दिया लेकिन वहां कूँए में भी कूँए की पाल की मिट्टी लेकर, मिट्टी के ग्राकार के पाडे बनाकर मारता था। मानसिक वृत्तियों में ही पाप की धारा बनी हुई थी। महा-ग्रज्ञानी-महापापी, महाहिंसक उस कालशौकरिक कषाई ने उस कूँए में भी ५०० पाडे इस तरह भी मारे ! मानसिक हिंसा से भी पूरा पाप बाँधता है। इसलिए वृत्ति में से पाप हटाना चाहिए ....तभी जाकर प्रवृत्ति में से भी पाप हटने की संभावना रहती है।

कालशोकरिक के घर में पुत्र की उत्पत्ति हुई । पुत्र का लालन-पालन हुआ । वह बडा हुआ ! पिता अपने तीव्र ममत्व से उसे साथ ही साथ सर्वत्र ले जाते थे । इस तरह वे उसे समवसरण में भी ले गए ! उसे बहुत अच्छा लगा । इस तरह पिता अपने पुत्र सुलषकुमार को प्रतिदिन समवसरण में ले जाने लगे । सुलष बडा हुआ । ८-१० साल का हुआ । पिता ने सोचा चलो अभी से इसको अपने व्यवसाय में जोडु । अभी से संस्कार पडते रहेंगे तो भविष्य में यह मेरे परंपरागत व्यापार को चलाते रहेगा । और इस कुल में यह परंपरा अविछिन्न चलती रहेगी । ऐसा सोचकर छोटी चाकू देकर मांस पिंड के छोटे-छोटे टुकडे करने के लिए कहा ।

स्वाभाविक है कि पिता के व्यापार–क्रिया को देखते–देखते– पुत्र की उसमें प्रवृत्ति होती है । लेकिन कभी उल्टा भी होता है । सुलष अपने पिता के स्वभाव से भिन्न था । और उसमें भी ८-१० साल की छोटी आयु में भगवान का उपदेश सुना था । फलस्वरुप एक दिन सुलभ ने पिता को कह ही दिया कि– मैं कभी भी यह पाप नहीं करूंगा । इस हिंसा के पाप को करके नरक में जाकर दुःखी होना यह कहां तक उचित है । पिताजी मैंने भगवान महा-वीर का उपदेश सुना है अतः मैं यह महापाप नहीं करूंगा । और न ही आपके पाप में भागीदार बनूंगा । इन शब्दों से पिता को बडा खराब लगा । वज्राघात सा लगा । अरे ! मेरा ही बेटा मेरे व्यापार को पाप कहता है । महापाप मानता है ।

पिता ने कहा— अरे ! बेटे मेरे भी बाप दादों ने किसी ने इसे पाप नही माना, नहीं कहा । और तुमको ही पाप लग रहा है ?

पुत्र सुलष— पिताजी ! मैंने प्रभु महावीर का उपदेश सुना है, अतः मुझे यह समझ में आया है कि यह महापाप है– और महा-दुःखदायि नरक में ले जाएगा । जहां लाखों–करोडों वर्षों तक इस पाप की बडी भारी सजा भुगतनी पडेगी ।

पिता— अरे बेटे ! महावीर की बात तो केवल सुनने की ही होती है ! वहां तो केवल सबके बीच में बैठने के लिए ही जाना उचित है । बाकि सुनना और अमल करना यह उचित नहीं है । अपने कुलाचार को परंपरा का त्याग करना यही महापाप है ।

पुत्र सुलष—पिताजी ! यदि मैं यह पाप करूंगा और जब पाप कर्म की सजा के रूप में भयंकर दुःख भोगूंगा । तब मुझे कौन बचाएगा ? तब मेरा क्या होगा ?

परंतु महापापी—महाहिंसकवृत्ति वाले पिता जो अभवी मिथ्यात्वी जीव है वो कहां समझें ?

पुत्र सुलष—जो कि कषाई के घर में जन्मा था फिर भी प्रभु महावीर की देशना सुनकर हिंसा आदि पापों को अच्छी तरह समझ चुका था । उसने हिंसा के कुलाचार की पाप परंपरा का त्याग किया । और स्वयं नरक में जाने से बच गया । जबकि उसके पिता सातवीं नरक में गए ।

हम भी सभी जीव हिंसा के घोर पाप से बचें" यहा शुभ भावना ।

(हिंसा का विशेष स्वरुप आगामी व्याख्यान में सोचेंगे)

—: 卐 :—

प. पू. मुनिराज श्री अरुणविजयजी म.

—की शुभ निश्रा में—

श्री जैन श्वे. मू. त. श्री संघ-उदयपुर द्वारा आयोजित

चातुर्मासिक 20 रविवारीय

श्री महावीर जैन शिक्षण शिविर

में प्रति रविवार दोपहर में २-३० से ४-००चलती हुई

सचित्र जाहिर व्याख्यनमाला

"पाप की सजा भारी"

की यह तृतीय प्रवचन पुस्तिका

दादाई निवासी धर्मनिष्ठ महामंत्र उपासक

स्व. पूज्य पिताश्री....

चुन्निलालजी रांका की पुण्य स्मृति में

पूज्य मातुश्री [illegible] चुन्निलालजी रांका

Serving JinShasan
090445
gyanmandir@kobatirth.org

रांक[illegible] य से

श्री [illegible] घ ने

यह पुस्तिका प्रसिद्ध की गई है ।

रांका परिवार

मुद्रकः— ऋषभ मुद्रणालय, धानमण्डी, उदयपुर